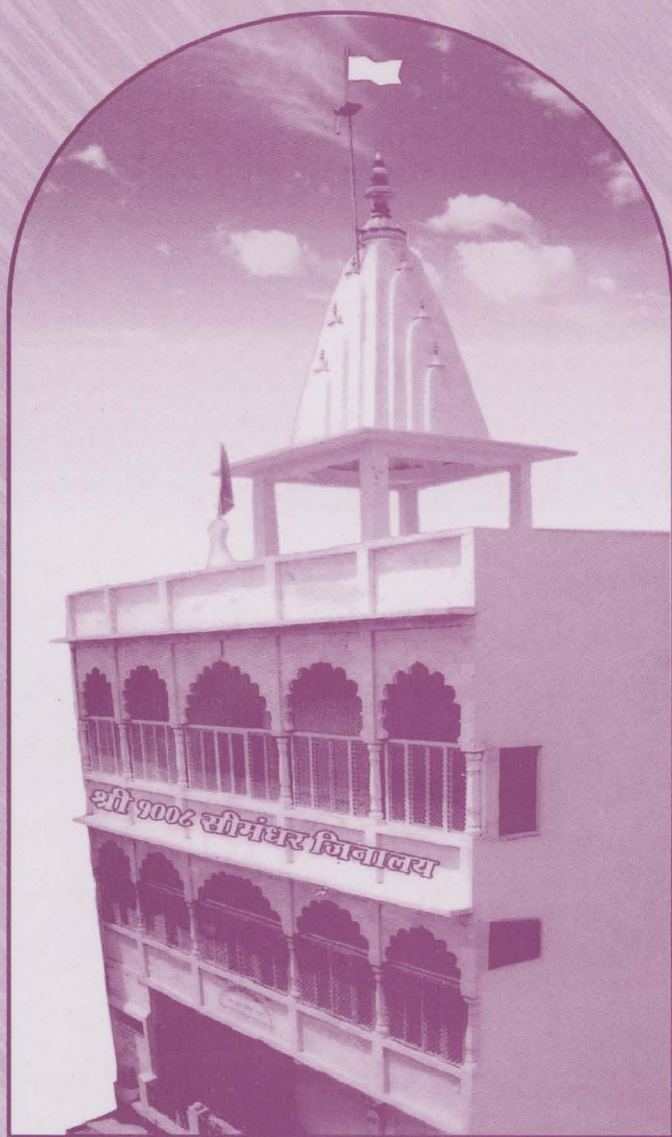


वैराग्य पाठ संग्रह



— ❁ प्रकाशक ❁ —

श्री कुण्ड कुण्ड दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल ट्रस्ट

श्री सीमंथर जिनालय (ज्ञान मंदिर), टीकमगढ (म.प्र.)

तीर्थ-वन्दना

(चौपाई)

तीर्थ-वन्दना मंगलकारी, तीर्थ-वन्दना आनन्दकारी ॥टेक॥
महाभाग्य से हो जिनदर्शन, महाभाग्य से चरण-स्पर्शन ।
भाव-विशुद्धि हो सुखकारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी ॥१॥
प्रभु की शांतछवि को निरखें, परमतत्त्व को अब हम परखें ।
शाश्वत ज्ञायक प्रभु अविकारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी ॥२॥
आत्म साधना की यह भूमि, धर्म आराधन की यह भूमि ।
भायें तत्त्व-भावना प्यारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी ॥३॥
यहाँ संतों की याद सु-आये, मुक्तिमार्ग में मन ललचाये ।
छूटे जग प्रपंच दुखकारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी ॥४॥
अहो जिनेश्वर क्या कहते हैं, सदा सहज निज में रहते हैं ।
हम भी होवें शिवमगचारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी ॥५॥
हो सम्यक् श्रद्धान हमारा, हो निर्मल सद्ज्ञान हमारा ।
होवें सम्यक् चारित्रधारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी ॥६॥
नहीं कामना भोगों की हो, नहीं याचना वैभव की हो ।
प्रभु सम प्रभुता होय हमारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी ॥७॥
भक्ति भाव से प्रभु गुण गावें, प्रभु को हृदय माँहिं वसावें ।
सफल वंदना होय हमारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी ॥८॥

वैराग्य पाठ संग्रह

ॐ प्रकाशक ॐ

श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल ट्रस्ट
श्री सीमन्धर जिनालय (ज्ञानमंदिर) टीकमगढ़ (म.प्र.)

ॐ सम्पर्क सूत्र ॐ

पण्डित सुरेशचन्द्र जैन पिपरावाले
समकित भवन

छोटी देवी के पास, टीकमगढ़ (म.प्र.)

फोन : 07683-244838,

मो. 09424601458 09981085499, 09826016647

अबतक प्रकाशित : १८,५००

तृतीय संस्करण : ४१५० प्रतियाँ, छठवें वार्षिकोत्सव पर (फरवरी, २०१०)

लागत : १५/- आगामी संस्करण हेतु : १२/-

दो शब्द

कल का दिन किसने देखा, आज का दिन हम खोवें क्यों ?
जिन घड़ियों में हँस सकते हैं, उन घड़ियों में रोवें क्यों ?

स्वाध्याय के बिना सुखी होना तो दूर, सुखी होने का सही उपाय भी समझ में नहीं आता। भक्ति में आत्म निवेदन की प्रधानता है, परन्तु भगवान के द्वारा बताया धर्मतीर्थ प्राप्त करने का प्रथम सोपान स्वाध्याय ही है। जैसे भौतिक शरीर के लिए भोजन आवश्यक है वैसे ही आत्मार्थ साधने के लिए स्वाध्याय। अतः प्रत्येक जीव का कर्तव्य है कि निज-लक्ष्य पूर्वक निरन्तर स्वाध्याय अवश्य करे।

पाठ करना, याद करना भी आम्नाय नामक स्वाध्याय ही है। आँखें और कान पराधीन हैं। शास्त्र पढ़ना या सुनना हर समय सम्भव नहीं है। अतः पाठों को याद करके इनके माध्यम से तत्त्वाभ्यास करें और अपने उपयोग को निर्मल रखने का सतत् प्रयत्न करते रहें। इसी उद्देश्य से आध्यात्मिक ज्ञान व वैराग्य गर्भित पाठों का यह लघु संस्करण प्रकाशित करते हुए यही भावना है कि हम सभी इसका अधिकाधिक सदुपयोग करते हुए सुख-शान्ति के मार्ग में अग्रसर होवें।

बाल ब्र. श्री रवीन्द्रजी 'आत्मन्' द्वारा वैराग्य एवं तत्त्वज्ञान वर्धक अनेकों आध्यात्मिक पाठ की अनुपम रचनाएँ आत्मार्थी जीवों को प्रतिदिन प्रतिसमय स्मरण करने योग्य हैं। भव्यजीवों को प्रतिदिन पाठ करने में सुविधा रहे तथा पाठ के माध्यम से वे अपने परिणामों को विशुद्ध बनायें और जन्म-मरण का अभाव कर सुखी हों – इस भावना से यह लघु संकलन प्रस्तुत है। सभी भव्यात्मार्यें इसका पवित्र हृदय से लाभ लें – यही भावना है। – सुरेशचंद पिपरावाले, मंत्री

प्रस्तुत संस्करण में कीमत कम करने वालों की साभार नामावलि

११००१/- डॉ. बासन्ती बेन शाह, प्रमुख श्री दिगम्बर जैन मुक्ति मण्डल मुम्बई।

१५०१/- श्रीमती स्वाति जैन ह. श्री आशीष जैन बाँसवाड़ा।

११०१/- श्रीमती जयन्ती जैन दालमिल, ११०१/- श्रीमती कमला जैन गुरसौरा।

५०१ रुपये देनेवाले – सर्व सौ. सरोज जैन पिपरा, शीला पंकज, शीला दलीपुर, शीला विलगांय, माया जैन, मीना गुड़ा, श्रद्धा वैद्य, सितारा वैद्य, मीरा मालपीठा, दर्शना सिंघई, कुसुम प्रतिभा प्रेस, रजनी वैसाखिया, राजकुमारी लॉड्डुआ, राजकुमारी जनता, करुणा ठगन, कु. प्रज्ञा जैन ककडारी।



अनुक्रमणिका

विषय	रचयिता	पृष्ठांक
१. मंगलाचरण.	संकलित	५
२. परमानन्द स्तोत्र	आचार्यश्री अकलंकदेव	६
३. ब्रह्मचर्य विंशतिका	ब्र. श्री रवीन्द्रजी	८
४. समता षोडसी	„	१०
५. अपना स्वरूप	„	११
६. चेतो-चेतो आराधना में	„	१२
७. मंगल शृङ्गार	„	१४
८. वीर शासन दशक	„	१५
९. परमार्थ शरण	„	१६
१०. सामायिक पाठ (आचार्य अमितगतिजी)	हिन्दी अनुवाद बाबू युगलजी	१७
११. सामायिक पाठ (पंच परमगुरु...)	ब्र. श्री रवीन्द्रजी	२०
१२. अपनी वैभव गाथा	„	२२
१३. जिनमार्ग	„	२४
१४. अपूर्व अवसर (श्रीमद्जी)	„ (हिन्दी अनुवाद)	२६
१५. समाधिमरण पाठ (सहज समाधि...)	„	२८
१६. बारह भावना (निजस्वभाव की...)	„	३०
१७. वैराग्य भावना	पं. श्री भूधरदासजी	३२
१८. वैराग्य पच्चीसिका	भैया भगवतीदासजी	३५
१९. आत्म सम्बोधन (वैराग्यभावना)	अज्ञात	३७
२०. परमार्थ विंशतिका	ब्र. श्री रवीन्द्रजी	४१
२१. अमूल्य तत्त्व विचार (श्रीमद्जी)	हिन्दी अनुवाद बाबू युगलजी	४५
२२. सांत्वनाष्टक	ब्र. श्री रवीन्द्रजी	४६
२३. ब्रह्मचर्य द्वादशी	„	४७
२४. ज्ञानाष्टक	„	४९
२५. पथिक-संदेश	कविवर श्री छोटेलालजी	५०
२६. ज्ञान पच्चीसी	कविवर श्री बनारसीदासजी	५४
२७. निर्ग्रन्थ भाव स्तवन	ब्र. श्री रवीन्द्रजी	५६
२८. निर्ग्रन्थ भावना		५८

२९. बारह भावना (जेती वस्तु जगत में...)	कविश्री बुधजनजी	५९
३०. षोडस कारण विंशतिका	ब्र. श्री रवीन्द्रजी	६१
३१. बाईस परिषह	,,	६५
३२. दशधर्म द्वादशी	,,	६८
३३. नारी स्वरूप	,,	६९
३४. वैराग्य द्वादशी	,,	७१
३५. कर्तव्याष्टक	,,	७२
३६. प्रभावना	,,	७३
३७. बारह भावना	,,	७५
३८. स्वाधीन मार्ग	,,	७६
३९. अपूर्व कार्य करूँगा	,,	७९
४०. शुद्धात्म आराधना	,,	८२
४१. बृहत् साधु स्तवन	,,	८४
४२. शुद्धात्म-चिन्तवन (परमार्थ स्तवन)	,,	८७
४३. नित्य-भावना	,,	८८
४४. सम्बोधनाष्टक	,,	९०
४५. जिनधर्म	,,	९०
४६. अक्षय-तृतीया	,,	९१
४७. ब्रह्मचर्य ध्रुव ब्रह्ममयी	,,	९३
४८. निर्मुक्ति-भावना	,,	९४
४९. आराधना का फल	,,	९६
५०. आत्म-भावना	,,	९८
५१. दशलक्षण धर्म का मर्म	,,	१००
५२. श्री नेमिकुमार निष्क्रमण	,,	१०१
५३. श्री यशोधर गाथा	,,	१०४
५४. श्री अकलंक-निकलंक गाथा	,,	१०७
५५. सेठ सुदर्शन गाथा	,,	१०९
५६. श्री देशभूषण-कुलभूषण गाथा	,,	११३
५७. सती अनन्तमती गाथा	,,	११६
५८. आचार्य श्री जिनसेन गाथा	कवि चन्द्रसेनजी	११९

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ

वैराग्य पाठ संग्रह



मंगलाचरण

(हरिगीतिका)

मोक्ष न आत्मज्ञान बिन, क्रिया ज्ञान बिन नाहिं ।
ज्ञान विवेक बिना नहीं, गुण विवेक के माहिं ॥
नहिं विवेक जिनमत बिना, जिनमत जिनबिन नाहिं ।
मोक्ष मूल निर्मल महा, जिनवर त्रिभुवन माहिं ॥
तार्ते जिनको वन्दना, हमरी बारम्बार ।

जिनते आपा पाईये, तीन भुवन में सार ॥
चौबीसी तीनों नमूं, नमो तीस चौबीस ।

सीमन्धर आदिक प्रभो, नमन करो जिन बीस ॥
तीनकाल के जिनवरा, तीन काल के सिद्ध ।

तीन काल के मुनिवरा, वन्दूं लोक प्रसिद्ध ॥
जिनवाणी रस अमृता, जा सम सुधा न और ।

जाकर भव भ्रमण मिटै, पावे निश्चल ठौर ॥

परमानन्द स्तोत्र

(अनुष्टुप)

परमानन्द-संयुक्तं, निर्विकारं निरामयम् ।
 ध्यान-हीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम् ॥१॥
 अनन्तसुख-सम्पन्नं, ज्ञानामृत-पयोधरम् ।
 अनन्तवीर्य-सम्पन्नं, दर्शनं परमात्मनः ॥२॥
 निर्विकारं निराबाधं, सर्वसंग-विवर्जितम् ।
 परमानन्द-सम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥३॥
 उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा ।
 अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिन्ताऽधमाधमा ॥४॥
 निर्विकल्प-समुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम् ।
 विवेकमञ्जुलिं कृत्वा तत्पिबन्ति तपस्विनः ॥५॥
 सदानन्दमयं जीवं यो जानाति स पण्डितः ।
 स सेवते निजात्मानं परमानन्द-कारणम् ॥६॥
 नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा ।
 अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः ॥७॥
 द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं भावकर्म विवर्जितम् ।
 नोकर्म-रहितं विद्धि, निश्चयेन चिदात्मनः ॥८॥
 आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, निजदेहे व्यवस्थितम् ।
 ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम् ॥९॥
 तद्ध्यानं क्रियते भव्यैर्मनो येन विलीयते ।
 तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं चिच्चमत्कार-लक्षणम् ॥१०॥

(उपजाति)

ये ध्यानशीला मुनयः प्रधानास्ते दुःखहीना नियमाद्भवन्ति ।
 सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्वं, व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव ॥११॥

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं, समस्त-संकल्प विकल्पमुक्तम् ।
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यं, जानातियोगीस्वयमेव तत्त्वम् ॥१२॥

(अनुष्टुप)

चिदानन्दमयं शुद्धं, निराकारं निरामयम् ।
अनन्तसुखसम्पन्नं, सर्वसङ्ग विवर्जितम् ॥१३॥
लोकमात्र-प्रमाणोऽयं, निश्चयेन न हि संशयः ।
व्यवहारे तनूमात्रः, कथितः परमेश्वरैः ॥१४॥
यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं, तत्क्षणं गत-विभ्रमः ।
स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्पसमाधिना ॥१५॥
स एव परमं ब्रह्मं, स एव जिनपुंगवः ।
स एव परमं तत्त्वं, स एव परमो गुरुः ॥१६॥
स एव परमं ज्योतिः, स एव परमं तपः ।
स एव परमं ध्यानं, स एव परमात्मनः ॥१७॥
स एव सर्वकल्याणं, स एव सुखभाजनम् ।
स एव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमः शिवः ॥१८॥
स एव परमानन्दः, स एव सुखदायकः ।
स एव परमचैतन्यं, स एव गुणसागरः ॥१९॥
परमाह्लाद-सपन्नं, राग-द्वेष-विवर्जितम् ।
अर्हन्तं देहमध्ये तु, यो जानाति स पण्डितः ॥२०॥
आकार-रहितं शुद्धं स्व स्वरूप-व्यवस्थितम् ।
सिद्धमष्टगुणोपेतं निर्विकारं निरंजनम् ॥२१॥
तत्सदृशं निजात्मानं, प्रकाशाय महीयसे ।
सहजानन्दचैतन्यं, यो जानाति स पण्डितः ॥२२॥
पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः ॥२३॥
काष्ठमध्ये यथा वह्निः, शक्तिरूपेण तिष्ठति ।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पण्डितः ॥२४॥

ब्रह्मचर्य विंशतिका

है परम धर्म ब्रह्मचर्य धर्म, इसमें सब धर्म समाते हैं।
 जितने लगते दोष यहाँ, वे सब कुशील में आते हैं॥१॥
 जो ब्रह्मचर्य पालन करते, दुःख पास न उनके आते हैं।
 जो भोगों में आसक्त हुए, वे दुःख को स्वयं बुलाते हैं॥२॥
 भोगों की दाता स्त्री है, पंचेन्द्रिय भोग जुटाती है।
 इक बूँद और की आशा में, भोले नर को अटकाती है॥३॥
 स्पर्शन में कोमल शैया, ठंडा-जल गरम-नरम भोजन।
 रसना को सरस प्रदान करे, शुभ गंध घ्राण के हेतु सृजन॥४॥
 चक्षु को हाव-भाव दर्शन, अरु राग वचन दे कानों को।
 हरती मन को बहु ढंगों से, संक्लेश करे अनजानों को॥५॥
 भोले जो विषयासक्त पुरुष, वे स्त्री में फंस जाते हैं।
 मल माया की साक्षात् मूर्ति, अस्पृश्य जिसे मुनि गाते हैं॥६॥
 स्त्री की काँख नाभि योनि, अरु स्तन के स्थानों में।
 सम्मूर्च्छन संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंख्यात जीव प्रतिसमय मरें॥७॥
 श्री गुरु तो यहाँ तक कहते हैं, अच्छा नागिन का आर्लिंगन।
 पर नहीं रागमय-दृष्टि से, नारी के तन का भी निरखन॥८॥
 संसार चक्र की धुरी अरे, बस नारी को बतलाया है।
 आधे माँ आधे पत्नी से, नाते प्रत्यक्ष दिखाया है॥९॥
 यदि स्त्री से विमुक्त देखो, तो नहीं किसी से भी नाता।
 भोगेच्छा भी नहीं रहने से, तन-पुष्टि राग भी भग जाता॥१०॥
 जग में हैं पुरुष अनेक भरे, जो असि के तीक्ष्ण वार सहें।
 अति क्रूर केहरी वश करते, मतवाले गज से नहीं डरें॥११॥

पर वे तो वीर नहीं भाई, स्त्री कटाक्ष से हार गये।
 हैं महावीर वे ही जग में जो निर्विकार उस समय रहे ॥१२॥
 यह तो निमित्त का कथन मात्र, है दोष नहीं कुछ नारी का।
 है दोष स्वयं की दृष्टि का, पुरुषार्थ शिथिलता भारी का ॥१३॥
 यदि ज्ञान दृष्टि से देखो तो, परद्रव्य नहीं कुछ करता है।
 पर लक्ष्य करे खुद अज्ञानी, अरु व्यर्थ दुःख में पड़ता है ॥१४॥
 पर को अपना स्वामी माने, खुद को आधीन समझता है।
 सुख हेतु प्रतिसमय क्लेशित हो, अनुकूल प्रतीक्षा करता है ॥१५॥
 प्रतिकूलों के प्रति क्षोभ करें, नित आर्तध्यान में लीन रहें।
 दुःखदाई ऐसे क्रूर भाव को, ज्ञानी स्त्रीपना कहे ॥१६॥
 इन परभावों को ही कुशील, जिन-आगम में बतलाया है।
 पुण्यभाव भी निश्चय से, दुःखमय कुशील ही गाया है ॥१७॥
 है ब्रह्म नाम आत्म स्वभाव, उसमें रहना ब्रह्मचर्य कहा।
 व्यवहार भेद अठारह हजार निश्चय अभेद सुखकार महा ॥१८॥
 अतएव भ्रात ब्रह्मचर्य धरो, नव-बाढ़ शील की पालो तुम।
 अतिचार पंच भी तजकर के, अनुप्रेक्षा पंच विचारो तुम ॥१९॥
 निश्चय ही जीवन सफल होय, आकुलता दूर सभी होगी।
 विश्राम मिले निज में निश्चय, अक्षय-पद की प्राप्ति होगी ॥२०॥

(दोहा)

ब्रह्मचर्य सुखमय सदा, निश्चय आत्मस्वभाव।
 पावनता स्वयमेव हो, मिटते सभी विभाव ॥२१॥

आत्मा में ज्ञान तो सबके है,
 पर धन्य वे हैं जिनके ज्ञान में आत्मा है।

समता षोडसी

समता रस का पान करो, अनुभव रस का पान करो।
 शान्त रहो शान्त रहो, सहज सदा ही शान्त रहो ॥टेका॥
 नहीं अशान्ति का कुछ कारण, ज्ञान दृष्टि से देख अहो।
 क्यों पर लक्ष करे रे मूर्ख, तेरे से सब भिन्न अहो ॥१॥
 देह भिन्न है कर्म भिन्न हैं, उदय आदि भी भिन्न अहो।
 नहीं अधीन हैं तेरे कोई, सब स्वाधीन परिणमित हो ॥२॥
 पर नहीं तुझसे कहता कुछ भी, सुख दुख का कारण नहीं हो।
 करके मूढ़ कल्पना मिथ्या, तू ही व्यर्थ आकुलित हो ॥३॥
 इष्ट अनिष्ट न कोई जग में, मात्र ज्ञान के ज्ञेय अहो।
 हो निरपेक्ष करो निज अनुभव, बाधक तुमको कोई न हो ॥४॥
 तुम स्वभाव से ही आनंदमय, पर से सुख तो लेश न हो।
 झूठी आशा तृष्णा छोड़ो, जिन वचनों में चित्त धरो ॥५॥
 पर द्रव्यों का दोष न देखो, क्रोध अग्नि में नहीं जलो।
 नहीं चाहो अनुरूप प्रवर्तन, भेद ज्ञान ध्रुव दृष्टि धरो ॥६॥
 जो होता है वह होने दो, होनी को स्वीकार करो।
 कर्त्तापन का भाव न लाओ, निज हित का पुरुषार्थ करो ॥७॥
 दया करो पहले अपने पर, आराधन से नहीं चिगो।
 कुछ विकल्प यदि आवे तो भी, सम्बोधन समतामय हो ॥८॥
 यदि माने तो सहज योग्यता, अहंकार का भाव न हो।
 नहीं माने भवितव्य विचारो, जिससे किंचित् खेद न हो ॥९॥
 हीन भाव जीवों के लखकर, ग्लानि भाव नहीं मन में हो।
 कर्मोदय की अति विचित्रता, समझो स्थितिकरण करो ॥१०॥

अरे कलुषता पाप बंध का, कारण लखकर त्याग करो।
 आलस छोड़ो बनो उद्यमी, पर सहाय की चाह न हो ॥११॥
 पापोदय में चाह व्यर्थ है, नहीं चाहने पर भी हो।
 पुण्योदय में चाह व्यर्थ है, सहजपने मन वांछित हो ॥१२॥
 आर्तध्यान कर बीज दुख के, बोना तो अविवेक अहो।
 धर्म ध्यान में चित्त लगाओ, होय निर्जरा बंध न हो ॥१३॥
 करो नहीं कल्पना असम्भव, अब यथार्थ स्वीकार करो।
 उदासीन हो पर भावों से सम्यक् तत्व विचार करो ॥१४॥
 तजो संग लौकिक जीवों का, भोगों के अधीन न हो।
 सुविधाओं की दुविधा त्यागो, एकाकी शिव पंथ चलो ॥१५॥
 अति दुर्लभ अवसर पाया है, जग प्रपंच में नहीं पड़ो।
 करो साधना जैसे भी हो, यह नर भव अब सफल करो ॥१६॥

अपना स्वरूप

रे जीव ! तू अपना स्वरूप देख तो अहा।
 दृग-ज्ञान-सुख-वीर्य का भण्डार है भरा ॥टेक॥
 नहिं जन्मता मरता नहीं, शाश्वत प्रभु कहा।
 उत्पाद व्यय होते हुये भी ध्रौव्य ही रहा ॥१॥
 पर से नहीं लेता नहीं देता तनिक पर को।
 निरपेक्ष है पर से स्वयं में पूर्ण ही अहा ॥२॥
 कर्ता नहीं भोक्ता नहीं स्वामी नहीं पर का।
 अत्यंताभाव रूप से ज्ञायक ही प्रभु सदा ॥३॥
 पर को नहीं मेरी कभी मुझको नहीं पर की।
 जरूरत पड़े सब परिणामन स्वतंत्र ही अहा ॥४॥
 पर दृष्टि झूठी छोड़कर निज दृष्टि तू करे।
 निज में ही मग्न होय तो आनन्द हो महा ॥५॥

बस मुक्तिमार्ग है यही निज दृष्टि अनुभवन ।

निज में ही होवे लीनता शिव पद स्वयं लहा ॥६॥

आत्मन् कहूँ महिमा कहाँ तक आत्म भाव की ।

जिससे बने परमात्मा शुद्धात्म वह कहा ॥७॥

चेतो-चेतो आराधना में

देखो-देखो यह जीव की, विराधना का फल ।

चेतो-चेतो आराधना में, मत बनो निर्बल ॥८॥

पाषाण खण्ड कह रहे, कठोरता त्यागो ।

विनम्र हो उत्साह से, शिवमार्ग में लागो ॥

बहते हुए झरने कहें, धोओ मिथ्यात्व मल ॥देखो-देखो..॥९॥

ईर्ष्या त्यागो जलती हुई, अग्नि है कह रही ।

मत चाह दाह में जलो, सुख अन्तर में सही ॥

वायु कहे भ्रमना वृथा, होओ निज में निश्चल ॥देखो-देखो..॥१०॥

जड़ता छोड़ो प्रमाद को नाशो कहें तरुवर ।

शुद्धात्मा ही सार है, उपदेश दें गुरुवर ॥

समझो-समझो निजात्मा, अवसर बीते पल-पल ॥देखो-देखो..॥११॥

मायाचारी संक्लेशता का, फल कहें तिर्यंच ।

जागो अब मोह नींद से, छोड़ो झूठे प्रपञ्च ॥

जिनधर्म पाया भाग्य से, दृष्टि करो निर्मल ॥॥देखो-देखो..॥१२॥

शृंगार अरु भोगों की रुचि का, फल कहती नारी ।

कंजूसी पूर्वक संचय का, फल कहते भिखारी ॥

बहु आरम्भ परिग्रह फल में, नारकी व्याकुल ॥देखो-देखो..॥१३॥

असहाय शक्ति हीन, देखो दरिद्री रोगी ।

कोइ इष्ट वियोगी, कोई अनिष्ट संयोगी ॥

धिनावना तन रूप, अंगोपांग है शिथिल ॥देखो-देखो..॥१४॥

यदि ये दुःख इष्ट नहीं हैं, तो निज भाव सुधारो ।
 निवृत्त हो विषय कषायों से, निजतत्त्व विचारो ॥
 चक्री के वैभव भोग भी, सुख देने में असफल ॥देखो-देखो..॥७॥
 पाकर किञ्चित् अनुकूलताएँ, व्यर्थ मत फूलो ।
 हैं पराधीन आकुलतामय, नहीं मोह में भूलो ॥
 ध्रुव चिदानन्दमय आत्मा, लक्ष्य करो अविरल ॥देखो-देखो..॥८॥
 पुण्यों की भी तृष्णायतनता, अबाधित जानो ।
 बन्धन तो बन्धन ही, उसे शिवमार्ग मत मानो ॥
 ज्यों अंक बिन बिन्दी त्यों स्वानुभव बिन जीवन निष्फल ॥देखो-देखो..॥९॥
 अब योग तो सब ही मिले, पुरुषार्थ जगाओ ।
 अन्तर्मुख हो बस मात्र, जाननहार जनाओ ॥
 सन्तुष्ट निज में ही रहो, ब्रह्मचर्य हो सफल ॥देखो-देखो..॥१०॥
 सब प्राप्य निज में ही अहो, स्थिरता उर लाओ ।
 तुम नाम पर व्यवहार के, बाहर न भरमाओ ॥
 निर्ग्रन्थ हो निर्द्वन्द्व हो ध्याओ, निजपद अविचल ॥देखो-देखो..॥११॥
 निज में ही सावधान ज्ञानी, साधु जो रहते ।
 वे ही जग के कल्याण में, निमित्त हैं होते ॥
 ध्याओ ध्याओ शुद्धात्मा, पर की चिन्ता निष्फल ॥देखो-देखो..॥१२॥
 निर्बन्ध के इस पंथ में, जोड़ो नहीं सम्बन्ध ।
 विचरो एकाकी निष्पृही, निर्भय सहज निशंक ॥
 निर्मूढ़ हो निर्मोही हो, पाओ शिवपद अविचल ॥देखो-देखो..॥१३॥

**मैं कौन हूँ ऐसा विचार न करे और अन्य
 सभी कार्य करे तो प्रमादी है ।**

मंगल शृङ्गार

मस्तक का भूषण गुरु आज्ञा, चूड़ामणि तो रागी माने ।
 सत्-शास्त्र श्रवण है कर्णों का, कुण्डल तो अज्ञानी जाने ॥१॥
 हीरों का हार तो व्यर्थ कण्ठ में, सुगुणों की माला भूषण ।
 कर पात्र-दान से शोभित हो, कंगन हथफूल तो हैं दूषण ॥२॥
 जो घड़ी हाथ में बंधी हुई, वह घड़ी यहीं रह जायेगी ।
 जो घड़ी आत्म-हित में लागी, वह कर्म बंध विनशायेगी ॥३॥
 जो नाक में नथुनी पड़ी हुई, वह अन्तर राग बताती है ।
 श्वास-श्वास में प्रभु सुमिरन से, नासिका शोभा पाती है ॥४॥
 होठों की यह कृत्रिम लाली, पापों की लाली लायेगी ।
 जिसमें बँधकर तेरी आत्मा, भव-भव के दुःख उठायेगी ॥५॥
 होठों पर हँसी शुभ्र होवे, गुणियों को लखते ही भाई ।
 ये होठ तभी होते शोभित, तत्त्वों की चर्चा मुख आई ॥६॥
 क्रीम और पाउडर मुख को, उज्ज्वल नहीं मलिन बनाता है ।
 हो साम्यभाव जिस चेहरे पर, वह चेहरा शोभा पाता है ॥७॥
 आँखों में काजल शील का हो, अरु लज्जा पाप कर्म से हो ।
 स्वामी का रूप बसा होवे, अरु नाता केवल धर्म से हो ॥८॥
 जो कमर करधनी से सुन्दर, माने उस सम है मूढ़ नहीं ।
 जो कमर ध्यान में कसी गई, उससे सुन्दर है नहीं कहीं ॥९॥
 पैरों में पायल ध्वनि करतीं, वे अन्तर द्वन्द्व बताती हैं ।
 जो चरण चरण की ओर बढ़े, उनके सन्मुख शरमाती हैं ॥१०॥
 जड़ वस्त्रों से तो तन सुन्दर, रागी लोगों को दिखता है ।
 पर सच पूछो उनके अन्दर, आत्म का रूप सिसकता है ॥११॥

जब बाह्य मुमुक्षु रूप धार, ज्ञानाम्बर को धारण करता।
 अत्यन्त मलिन रागाम्बर तज, सुन्दर शिवरूप प्रकट करता ॥१२॥
 एकत्व ज्ञानमय ध्रुव स्वभाव ही, एक मात्र सुन्दर जग में।
 जिसकी परिणति उसमें ठहरे, वह स्वयं विचरती शिवमग में ॥१३॥
 वह समवसरण में सिंहासन पर, गगन मध्य ही तिष्ठाता।
 रत्नत्रय के भूषण पहने, अपनी प्रभुता को प्रगटाता ॥१४॥
 पर नहीं यहाँ भी इतिश्री, योगों को तज स्थिर होता।
 अरु एक समय में सिद्ध हुआ, लोकाग्र जाय अविचल होता ॥१५॥

वीर शासन दशक

वीरनाथ का मंगल शासन, जग में नित जयवंत रहे।
 स्वानुभूतिमय श्री जिनशासन, जग में नित जयवंत रहे ॥१॥
 श्री जिनशासन के आधार, भव सागर से तारणहार।
 वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर, जग में नित जयवंत रहें ॥१॥
 वस्तु स्वरूप दिखावनहार, हेयाहेय बतावनहार।
 नित्य-बोधिनी माँ जिनवाणी, जग में नित जयवंत रहे ॥२॥
 मुक्तिमार्ग विस्तारनहार, धर्ममूर्ति जीवन अविकार।
 रत्नत्रय धारक मुनिराज, जग में नित जयवंत रहें ॥३॥
 चैत्य चैत्यालय मंगलकार, धर्म संस्कृति के आधार।
 सहज शान्तिमय धर्मतीर्थ सब, जग में नित जयवंत रहें ॥४॥
 देव गुरु की मंगल अर्चा, आनंदमयी धर्म की चर्चा।
 स्याद्वादमय ध्वजा हमारी, जग में नित जयवंत रहे ॥५॥
 अष्ट-अंगमय सम्यग्दर्शन, अनेकांतमय जीवन दर्शन।
 सहज अहिंसामयी आचरण, जग में नित जयवंत रहे ॥६॥

रहें सहज ही ज्ञाता-दृष्टा, हो विवेकमय निर्मल चेष्टा ।
 वीतराग-विज्ञान परिणति, जग में नित जयवंत रहे ॥७॥
 तत्त्वज्ञान को सब ही पावें, मुक्तिमार्ग सब ही प्रगटावें ।
 सुखी रहें सब जीव भावना, जग में नित जयवंत रहे ॥८॥
 जिनशासन है प्राण हमारा, मंगलोत्तम शरण सहारा ।
 नमन सहज अविकारी सुखमय, जग में नित जयवंत रहे ॥९॥
 सेवें जिनशासन सुखकारी, शान बढावें मंगलकारी ।
 सत्यपन्थ निर्ग्रन्थ दिगम्बर, जग में नित जयवंत रहे ॥१०॥

परमार्थ-शरण

अशरण जग में शरण एक शुद्धातम ही भाई ।
 धरो विवेक हृदय में आशा पर की दुखदाई ॥१॥
 सुख दुख कोई न बाँट सके यह परम सत्य जानो ।
 कर्मोदय अनुसार अवस्था संयोगी मानो ॥२॥
 कर्म न कोई देवे-लेवे प्रत्यक्ष ही देखो ।
 जन्मे-मरे अकेला चेतन तत्त्वज्ञान लेखो ॥३॥
 पापोदय में नहीं सहाय का निमित्त बने कोई ।
 पुण्योदय में नहीं दण्ड का भी निमित्त होई ॥४॥
 इष्ट-अनिष्ट कल्पना त्यागो हर्ष-विषाद तजो ।
 समता धर महिमामय अपना आतम आप भजो ॥५॥
 शाश्वत सुखसागर अन्तर में देखो लहरावे ।
 दुर्विकल्प में जो उलझे वह लेश न सुख पावे ॥६॥
 मत देखो संयोगों को कर्मोदय मत देखो ।
 मत देखो पर्यायों को गुणभेद नहीं देखो ॥७॥
 अहो देखने योग्य एक ध्रुव ज्ञायक प्रभु देखो ।
 हो अन्तर्मुख सहज दीखता अपना प्रभु देखो ॥८॥

देखत होउ निहाल अहो निज परम प्रभू देखो ।
 पाया लोकोत्तम जिनशासन आतमप्रभु देखो ॥१॥
 निश्चय नित्यानन्दमयी अक्षय पद पाओगे ।
 दुखमय आवागमन मिटे भगवान कहाओगे ॥१०॥

सामायिक पाठ

प्रेम भाव हो सब जीवों से, गुणी जनों में हर्ष प्रभो ।
 करुणा स्रोत बहे दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो ॥१॥
 यह अनन्त बल शील आतमा, हो शरीर से भिन्न प्रभो ।
 ज्यों होती तलवार म्यान से, वह अनन्त बल दो मुझको ॥२॥
 सुख-दुख वैरी-बन्धुवर्ग में, कांच-कनक में समता हो ।
 वन-उपवन प्रासाद-कुटी में, नहीं खेद नहीं ममता हो ॥३॥
 जिस सुन्दरतम पथ पर चलकर, जीते मोह मान मन्मथ ।
 वह सुन्दर पथ ही प्रभु ! मेरा, बना रहे अनुशीलन पथ ॥४॥
 एकेन्द्रिय आदिक प्राणी की, यदि मैंने हिंसा की हो ।
 शुद्ध हृदय से कहता हूँ वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो ॥५॥
 मोक्षमार्ग प्रतिकूल प्रवर्तन, जो कुछ किया कषायों से ।
 विपथ गमन सब कालुष मेरे, मिट जावें सब्द्रावों से ॥६॥
 चतुर वैद्य विष विक्षत करता, त्यों प्रभु ! मैं भी आदि उपांत ।
 अपनी निन्दा आलोचन से, करता हूँ पापों को शान्त ॥७॥
 सत्य अहिंसादिक व्रत में भी, मैंने हृदय मलीन किया ।
 व्रत विपरीत प्रवर्तन करके, शीलाचरण विलीन किया ॥८॥
 कभी वासना की सरिता का, गहन सलिल मुझ पर छाया ।
 पी-पीकर विषयों की मदिरा, मुझमें पागलपन आया ॥९॥

मैंने छली और मायावी, हो असत्य आचरण किया।
 पर निन्दा गाली चुगली जो, मुँह पर आया वमन किया ॥१०॥
 निरभिमान उज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे।
 निर्मलजल की सरिता सदृश, हिय में निर्मलज्ञान बहे ॥११॥
 मुनि चक्री शक्री के हिय में, जिस अनन्त का ध्यान रहे।
 गाते वेद पुराण जिसे वह, परम देव मम हृदय रहे ॥१२॥
 दर्शन ज्ञान स्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किये।
 परम ध्यान गोचर परमात्म, परम देव मम हृदय रहे ॥१३॥
 जो भवदुःख का विध्वंसक है, विश्वविलोकी जिसका ज्ञान।
 योगी जन के ध्यानगम्य वह, बसे हृदय में देव महान ॥१४॥
 मुक्तिमार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म-मरण से परम अतीत।
 निष्कलंक त्रैलोक्य दर्शि वह, देव रहे मम हृदय समीप ॥१५॥
 निखिल विश्व के वशीकरण वे, राग रहे ना द्वेष रहे।
 शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपी, परम देव मम हृदय रहे ॥१६॥
 देख रहा जो निखिल विश्व को, कर्मकलंक विहीन विचित्र।
 स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र ॥१७॥
 कर्मकलंक अद्भूत न जिसका, कभी छू सके दिव्य प्रकाश।
 मोहतिमिर को भेद चला जो, परमशरण मुझको वह आप्त ॥१८॥
 जिसकी दिव्यज्योति के आगे, फीका पड़ता सूर्य प्रकाश।
 स्वयं ज्ञानमय स्वपर प्रकाशी, परमशरण मुझको वह आप्त ॥१९॥
 जिसके ज्ञानरूप दर्पण में, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ।
 आदि-अंत से रहित शांत शिव, परमशरण मुझको वह आप्त ॥२०॥
 जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयमेव।
 भय-विषाद-चिन्ता सब जिसके, परमशरण मुझको वह देव ॥२१॥

तृण चौकी शिल शैल शिखर नहीं, आत्मसमाधि के आसन।
 संस्तर पूजा संग सम्मिलन, नहीं समाधि के साधन ॥२२॥
 इष्ट वियोग अनिष्ट योग में, विश्व मनाता है मातम।
 हेय सभी है विश्व-वासना, उपादेय निर्मल आतम ॥२३॥
 बाह्य जगत कुछ भी नहीं मेरा, और न बाह्य जगत का मैं।
 यह निश्चय कर छोड़ बाह्य को, मुक्ति हेतु नित स्वस्थ रमें ॥२४॥
 अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
 जग का सुख तो मृगतृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ ॥२५॥
 अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञानस्वभावी है।
 जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है ॥२६॥
 तन से जिसका ऐक्य नहीं, हो सुत तिय मित्रों से कैसे।
 चर्म दूर होने पर तन से, रोम समूह रहें कैसे ॥२७॥
 महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़ देह संयोग।
 मोक्ष महल का पथ है सीधा, जड़-चेतन का पूर्ण वियोग ॥२८॥
 जो संसार पतन के कारण, उन विकल्प जालों को छोड़।
 निर्विकल्प निर्द्वन्द्व आत्मा, फिर-फिर लीन उसी में हो ॥२९॥
 स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
 करे आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते ॥३०॥
 अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
 'पर देता है' यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादबुद्धि ॥३१॥
 निर्मल सत्य शिवं सुन्दर है, 'अमितगति' वह देव महान।
 शाश्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण ॥३२॥

अपना वैभव जिन्होंने नहीं देखा, उन्हें ही
 बाह्य वैभव की महिमा आती है।

सामायिक पाठ

पंच परमगुरु को प्रणमि, सरस्वती उर धार।

करूँ कर्म छेदंकरि सामायिक सुखकार॥१॥

(छन्द-चाल)

आत्मा ही समय कहावे, स्वाश्रय से समता आवे।
 वह ही सच्ची सामायिक, पाई नहीं मुक्ति विधायक॥२॥
 उसके कारण मैं विचारूँ, उन सबको अब परिहारूँ।
 तन में 'मैं हूँ' मैं विचारी, एकत्वबुद्धि यों धारी॥३॥
 दुखदाई कर्म जु माने, रागादि रूप निज जाने।
 आस्रव अरु बन्ध ही कीनो, नित पुण्य-पाप में भीनो॥४॥
 पापों में सुख निहारा, पुण्य करते मोक्ष विचारा।
 इन सबसे भिन्न स्वभावा, दृष्टि में कबहुँ न आवा॥५॥
 मद मस्त भयो पर ही में, नित भ्रमण कियो भव-भव में।
 मन वचन योग अरु तन से, कृत कारित अनुमोदन से॥६॥
 विषयों में ही लिपटाया, निज सच्चा सुख नहीं पाया।
 निशाचर हो अभक्ष्य भी खाया, अन्याय किया मन भाया॥७॥
 लोभी लक्ष्मी का होकर, हित-अहित विवेक मैं खोकर।
 निज-पर विराधना कीनी, किञ्चित् करुणा नहिं लीनी॥८॥
 षट्काय जीव संहारे, उर में आनन्द विचारे।
 जो अर्थ वाक्य पद बोले, थे त्रुटि प्रमाद विष घोले॥९॥
 किञ्चित् व्रत संयम धारा, अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचारा।
 उनमें अनाचार भी कीने, बहु बाँधे कर्म नवीने॥१०॥
 प्रतिकूल मार्ग यों लीना, निज-पर का अहित ही कीना।
 प्रभु शुभ अवसर अब आयो, पावन जिनशासन पायो॥११॥
 लब्धि त्रय मैंने पायी, अनुभव की लगन लगायी।
 अतएव प्रभो मैं चाहूँ, सबके प्रति समता लाऊँ॥१२॥

नहिं इष्टानिष्ट विचारूँ, निज सुख स्वरूप संभारूँ ।
 दुःखमय हैं सभी कषार्येँ, इनमें नहिं परिणति जाये ॥१३॥
 वेश्या सम लक्ष्मी चंचल, नहिं पकड़ूँ इसका अंचल ।
 निर्ग्रन्थ मार्ग सुखकारी, भाऊँ नित ही अविकारी ॥१४॥
 निज रूप दिखावन हारी, तव परिणति जो सुखकारी ।
 उसको ही नित्य निहारूँ, यावत् न विकल्प निवारूँ ॥१५॥
 तुम त्याग अठारह दोषा, निजरूप धरो निर्दोषा ।
 वीतराग भाव तुम भीने, निज अनन्त चतुष्टय लीने ॥१६॥
 तुम शुद्ध बुद्ध अनपाया, तुम मुक्तिमार्ग बतलाया ।
 अतएव मैं दास तुम्हारा, तिष्ठो मम हृदय मंझारा ॥१७॥
 तव अवलम्बन से स्वामी, शिवपथ पाऊँ जगनामी ।
 निर्द्वन्द्व निशल्य रहाऊँ, श्रेणि चढ़ कर्म नशाऊँ ॥१८॥
 जिनने मम रूप न जाना, वे शत्रु न मित्र समाना ।
 जो जाने मुझ आतम रे, वे ज्ञानी पूज्य हैं मेरे ॥१९॥
 जो सिद्धात्मा सो मैं हूँ, नहिं बाल युवा नर मैं हूँ ।
 सब तैं न्यारा मम रूप, निर्मल सुख ज्ञान स्वरूप ॥२०॥
 जो वियोग संयोग दिखाता, वह कर्म जनित है भ्राता ।
 नहिं मुझको सुख दुःखदाता, निज का मैं स्वयं विधाता ॥२१॥
 आसन संघ संगति शाला, पूजन भक्ति गुणमाला ।
 इनतैं समाधि नहिं होवे, निज में थिरता दुःख खोवे ॥२२॥
 धिन गेह देह जड़ रूपा, पोषत नहिं सुख स्वरूपा ।
 जब इससे मोह हटावे, तब ही निज रूप दिखावे ॥२३॥
 वनिता बेड़ी गृह कारा, शोषक परिवार है सारा ।
 शुभ जनित भोग जो पाई, वे भी आकुलता दायी ॥२४॥
 सबविधि संसार असारा बस निज स्वभाव ही सारा ।
 निज में ही तृप्त रहूँ मैं, निज में संतुष्ट रहूँ मैं ॥२५॥
 निज स्वभाव का लक्ष्य ले, मैंदूँ सकल विकल्प ।
 सुख अतीन्द्रिय अनुभवूँ, यही भावना अल्प ॥२६॥

अपनी वैभव गाथा

(मरहटा-माधवी)

आत्मन् ! अपनी वैभव गाथा, सुनो परम आनन्दमय ।
 स्वानुभूति से कर प्रमाण, प्रगटाओ सहज सौख्य अक्षय ॥टेक ॥
 स्वयं-सिद्ध सत् रूप प्रभु, नहीं आदि मध्य अवसान है ।
 तीन लोक चूड़ामणि आत्म, प्रभुता सिद्ध समान है ॥
 सिद्ध प्रभू ज्यों ज्ञाता त्यों ही, तुम ज्ञाता भगवान हो ।
 करो विकल्प न पूर्ण अपूर्ण का निर्विकल्प अम्लान हो ॥
 निश्चय ही परमानन्द विलसे, सर्व दुखों का होवे क्षय ॥आत्मन् ॥१॥
 हों संयोग भले ही कितने, संयोगों से भिन्न सदा ।
 नहीं तजे निजरूप कदाचित्, होवे नहीं पररूप कदा ॥
 कर्मबंध यद्यपि अनादि से, तदपि रहे निर्बन्ध सदा ।
 वैभाविक परिणामन होय, फिर भी तो है निर्द्वन्द अहा ॥
 देखो-देखो द्रव्यदृष्टि से, चित्स्वरूप अनुपम सुखमय ॥आत्मन् ॥२॥
 एक-एक शक्ति की महिमा, वचनों में नाहिं आवे ।
 शक्ति अनंतों उछलें शाश्वत, चिन्तन पार नहीं पावे ॥
 प्रभु स्वाधीन अखंड प्रतापी, अकृत्रिम भगवान अहो ।
 जो भी ध्यावे शिवपद पावे, ध्रुव परमेष्ठी रूप विभो ॥
 भ्रम को छोड़ो करो प्रतीति, हो निशंक निश्चल निर्भय ॥आत्मन् ॥३॥
 केवलज्ञान अनंता प्रगटे, ऐसा ज्ञान स्वरूप अहो ।
 काल अनंत-अनंतसुख विलसे, है अव्ययसुख सिंधु अहो ॥
 अनंत ज्ञान में भी अनंत ही, निज स्वरूप दर्शाया है ।
 पूर्णपने तो दिव्यध्वनि में भी, न ध्वनित हो पाया है ॥
 देखो प्रभुता इक मुहूर्त में, सब कर्मों पर लहे विजय ॥आत्मन् ॥४॥

आत्मज्ञान बिन चक्री इन्द्रादिक भी, तृप्ति नहीं पावें।
सम्यक् ज्ञानी नरकादिक में भी अपूर्व शान्ति पावें ॥
इसीलिये चक्री तीर्थकर, बाह्य विभूति को तजते।
हो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिवर, चिदानन्द पद में रमते ॥
धन्य-धन्य वे ज्ञानी ध्यावें, समयसार निज समय-समय ॥आत्मन्॥५॥

चक्रवर्ती की नवनिधियाँ पर, निज निधियों का पार नहीं।
चौदह रत्न चक्रवर्ती के, आतम गुण भण्डार सही ॥
चक्रवर्ती का वैभव नश्वर, आत्म-विभूति अविनाशी।
जो पावे सो होय अयाची, कट जाये आशापाशी ॥
झूठी दैन्य निराशा तजकर, पाओ वैभव मंगलमय ॥आत्मन्॥६॥

चंचल विपुल विकल्पों को तो, एक स्फुलिंग ही नाशे।
आतम तेजपुञ्ज सर्वोत्तम, कौन मुमुक्षु न अभिलाषे ॥
चिंतामणि तो पुण्य प्रमाणे, जग इच्छाओं को पूरे।
धन्य-धन्य चेतन चिंतामणि, क्षण में वांछायें चूरे ॥
निर्वाँछक हो अहो अनुभवो, अविनश्वर कल्याण मय ॥आत्मन्॥७॥

जिनधर्मों की पूजा करते, उनका धर्मी शुद्धातम।
परमपूज्य जानो पहिचानो, शुद्ध चिदम्बर परमातम ॥
परमपारिणामिक ध्रुवज्ञायक, लोकोत्तम अनुपम अभिराम।
नित्यनिरंजन परमज्योतिमय, परमब्रह्म अविचल गुणधाम ॥
करो प्रतीति अनुभव परिणति, निज में ही हो जाय विलय ॥आत्मन्॥८॥

गुरु की गुरुता, प्रभु की प्रभुता, आत्माश्रय से ही प्रगटे।
भव-भव के दुखदायी बंधन, स्वाश्रय से क्षण में विघटे ॥
आत्मध्यान ही उत्तम औषधि, भव का रोग मिटाने को।
आत्मध्यान ही एक मात्र साधन है, शिवसुख पाने को।
झूठे अहंकार को छोड़ो, शुद्धातम की करो विनय ॥आत्मन्॥९॥

रुचि न लगे यदि कहीं तुम्हारी, एक बार निज को देखो ।
 खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु से निज महिमा को देखो ॥
 भ्रांति मिटेगी, शांति मिलेगी, सहज प्रतीति आयेगी ।
 समाधान निज में ही होगा, आकुलता मिट जायेगी ॥
 चूक न जाना स्वर्णिम अवसर, करो निजातम का निश्चय ॥
 आत्मन् ! अपनी वैभव गाथा, सुनो परम आनन्दमय । आत्मन् ॥१०॥

जिनमार्ग

कितना सुन्दर, कितना सुखमय, अहो सहज जिनपंथ है ।
 धन्य धन्य स्वाधीन निराकुल, मार्ग परम निर्ग्रन्थ है ॥टेक॥

श्री सर्वज्ञ प्रणेता जिसके, धर्म पिता अति उपकारी ।
 तत्त्वों का शुभ मर्म बताती, माँ जिनवाणी हितकारी ।
 अंगुली पकड़ सिखाते चलना, ज्ञानी गुरु निर्ग्रन्थ हैं ॥ धन्य...॥१॥

देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा ही, समकित का सोपान है ।
 महाभाग्य से अवसर आया, करो सही पहिचान है ॥
 पर की प्रीति महा दुखःदायी, कहा श्री भगवंत है ॥ धन्य...॥२॥

निर्णय में उपयोग लगाना ही, पहला पुरुषार्थ है ।
 तत्त्व विचार सहित प्राणी ही, समझ सके परमार्थ है ॥
 भेद ज्ञान कर करो स्वानुभव, विलसे सौख्य बसंत है ॥ धन्य...॥३॥

ज्ञानाभ्यास करो मनमाहीं, विषय-कषायों को त्यागो ।
 कोटि उपाय बनाय भव्य, संयम में ही नित चित पागो ॥
 ऐसे ही परमानन्द वेदें, देखो ज्ञानी संत हैं ॥ धन्य...॥४॥

रत्नत्रयमय अक्षय सम्पत्ति, जिनके प्रगटी सुखकारी ।
 अहो शुभाशुभ कर्मोदय में, परिणति रहती अविकारी ॥
 उनकी चरण शरण से ही हो, दुखमय भव का अंत है ॥ धन्य .॥५॥

क्षमाभाव हो दोषों के प्रति, क्षोभ नहीं किंचित् आवे ।
 समता भाव आराधन से निज, चित्त नहीं डिगने पावे ॥

उर में सदा विराजें अब तो, मंगलमय भगवंत हैं ॥ धन्य...॥६॥

हो निशंक, निरपेक्ष परिणति, आराधन में लगी रहे।

क्लेशित हो नहीं पापोदय में, जिनभक्ति में पगी रहे ॥

पुण्योदय में अटक न जावे, दीखे साध्य महंत है ॥ धन्य...॥७॥

परलक्षी वृत्ति ही आकर, शिवसाधन में विघ्न करे।

हो पुरुषार्थ अलौकिक ऐसा, सावधान हर समय रहे ॥

नहीं दीनता, नहीं निराशा, आत्म शक्ति अनंत है ॥ धन्य...॥८॥

चाहे जैसा जगत परिणमे, इष्टानिष्ट विकल्प न हो।

ऐसा सुन्दर मिला समागम, अब मिथ्या संकल्प न हो ॥

शान्तभाव हो प्रत्यक्ष भासे, मिटे कषाय दुरन्त है ॥ धन्य...॥९॥

यही भावना प्रभो स्वप्न में भी, विराधना रंच न हो।

सत्य, सरल परिणाम रहें नित, मन में कोई प्रपंच न हो ॥

विषय कषायारम्भ रहित, आनन्दमय पद निर्ग्रन्थ है ॥ धन्य...॥१०॥

धन्य घड़ी हो जब प्रगटावे, मंगलकारी जिनदीक्षा।

प्रचुर स्वसंवेदनमय जीवन, होय सफल तब ही शिक्षा ॥

अविरल निर्मल आत्मध्यान हो, होय भ्रमण का अंत है ॥ धन्य...॥११॥

अहो जितेन्द्रिय जितमोही ही, सहज परम पद पाता है।

समता से सम्पन्न साधु ही, सिद्ध दशा प्रगटाता है ॥

बुद्धि व्यवस्थित हुई सहज ही, यही सहज शिवपंथ है ॥ धन्य...॥१२॥

आराधन में क्षण-क्षण बीते, हो प्रभावना सुखकारी।

इसी मार्ग में सब लग जावें, भाव यही मंगलकारी ॥

सद्दृष्टि-सद्ज्ञान-चरणमय, लोकोत्तम यह पंथ है ॥ धन्य...॥१३॥

तीनलोक अरु तीनकाल में, शरण यही है भविजन को।

द्रव्य दृष्टि से निज में पाओ, व्यर्थ न भटकाओ मन को ॥

इसी मार्ग में लगें-लगावें, वे ही सच्चे संत हैं ॥ धन्य...॥१४॥

है शाश्वत अकृत्रिम वस्तु, ज्ञानस्वभावी आत्मा।
जो आतम आराधन करते, बनें सहज परमात्मा॥
परभावों से भिन्न निहारो, आप स्वयं भगवंत है॥ धन्य...॥१५॥

अपूर्व अवसर

आवे कब अपूर्व अवसर जब, बाह्यान्तर होऊँ निर्ग्रन्थ।
सब सम्बन्धों के बन्धन तज, विचरूँ महत् पुरुष के पंथ॥१॥
सर्व-भाव से उदासीन हो, भोजन भी संयम के हेतु।
किंचित् ममता नहीं देह से, कार्य सभी हों मुक्ती सेतु॥२॥
प्रगट ज्ञान मिथ्यात्व रहित से, दीखे आत्म काय से भिन्न।
चरितमोह भी दूर भगाऊँ, निज-स्वभाव का ध्यान अछिन्न॥३॥
जबतक देह रहे तबतक भी, रहूँ त्रिधा मैं निज में लीन।
घोर परीषह उपसर्गों से, ध्यान न होवे मेरा क्षीण॥४॥
संयम हेतु योग प्रवर्तन, लक्ष्य स्वरूप जिनाज्ञाधीन।
क्षण-क्षण चिन्तन घटता जावे, होऊँ अन्त ज्ञान में लीन॥५॥
राग-द्वेष ना हो विषयों में, अप्रमत्त अक्षोभ सदैव।
द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव से, विचरण हो निरपेक्षित एव॥६॥
क्रोध प्रति मैं क्षमा संभारूँ, मान तजूँ मार्दव भाऊँ।
माया को आर्जव से जीतूँ, वृत्ति लोभ नहीं अपनाऊँ॥७॥
उपसर्गों में क्रोध न तिलभर, चक्री वन्दे मान नहीं।
देह जाय किञ्चित् नहीं माया, सिद्धि का लोभ निदान नहीं॥८॥
नमन वेष अरु केशलोच, स्नान दन्त धोवन का त्याग।
नहीं रुचि शृङ्गार प्रति, निज संयम से होवे अनुराग॥९॥
शत्रु-मित्र देखूँ न किसी को, मानामान में समता हो।
जीवन-मरण दोऊ सम देखूँ, भव-शिव में न विषमता हो॥१०॥

एकाकी जंगल मरघट में, हो अडोल निज-ध्यान धरूँ।
 सिंह व्याघ्र यदि तन को खायें, उनमें मैत्रीभाव धरूँ ॥११॥
 घोर तपश्चर्या करते, अहार अभाव में खेद नहीं।
 सरस अन्न में हर्ष न रजकण, स्वर्ग ऋद्धि में भेद नहीं ॥१२॥
 चारित मोह पराजित होवे, आवे जहाँ अपूर्वकरण।
 अनन्य चिन्तन शुद्धभाव का, क्षपक-श्रेणि पर आरोहण ॥१३॥
 मोह स्वयंभूरमण पार कर, क्षीण-मोह गुणस्थान वरूँ।
 ध्यान शुक्ल एकत्व धार कर, केवलज्ञान प्रकाश करूँ ॥१४॥
 भव के बीज घातिया विनशे, होऊँ मैं कृतकृत्य तभी।
 दर्श ज्ञान सुख बल अनन्तमय, विकसित हों निजभाव सभी ॥१५॥
 चार अघाती कर्म जहाँ पर, जली जेबरी भाँति रहे।
 आयु पूर्ण हो मुक्त दशा फिर, देह मात्र भी नहीं रहे ॥१६॥
 मन-वच-काया-कर्मवर्गणा, के छूटे सब ही सम्बन्ध।
 सूक्ष्म अयोगी गुणस्थान हो, सुखदायक अरु पूर्ण अबन्ध ॥१७॥
 परमाणु मात्र स्पर्श नहीं हो, निष्कलंक अरु अचल स्वरूप।
 चैतन्य मूर्ति शुद्ध निरंजन, अगुरुलघु बस निजपद रूप ॥१८॥
 पूर्व प्रयोगादिक कारण वश, ऊर्ध्व गमन सिद्धालय तिष्ठ।
 सादि अनन्त समाधि सुख में, दर्शन ज्ञान चरित्र अनन्त ॥१९॥
 जो पद श्री सर्वज्ञ ज्ञान में, कह न सके पर श्री भगवान।
 वह स्वरूप फिर अन्य कहे को, अनुभवगोचर है वह ज्ञान ॥२०॥
 मात्र मनोरथ रूप ध्यान यह, है सामर्थ्य हीनता आज।
 'रायचन्द' तो भी निश्चय मन, शीघ्र लहूँगा निजपद राज ॥२१॥
 सहज भावना से प्रेरित हो, हुआ स्वयं ही यह अनुवाद।
 शब्द अर्थ की चूक कहीं हो, सुधी सुधार हरो अवसाद ॥२२॥

समाधिमरण पाठ

सहज समाधिस्वरूप सु ध्याऊँ, ध्रुव ज्ञायक प्रभु अपना ।
 सहज ही भाऊँ सहज ही ध्याऊँ, ध्रुव ज्ञायक प्रभु अपना ॥१॥
 आधि व्याधि उपाधि रहित हूँ, नित्य निरंजन ज्ञायक ।
 जन्म मरण से रहित अनादिनिधन ज्ञानमय ज्ञायक ॥२॥
 भावकलंक से भ्रमता भव-भव, क्षण नहीं साता आयी ।
 पहिचाने बिन निज ज्ञायक को, असह्य वेदना पायी ॥३॥
 मिला भाग्य से श्री जिनधर्म, सुतत्त्व ज्ञान उपजाया ।
 देहादिक से भिन्न ज्ञानमय, ज्ञायक प्रत्यक्ष दिखाया ॥४॥
 कर्मादिक सब पुद्गल भासे, मिथ्या मोह नशाया ।
 धन्य-धन्य कृतकृत्य हुआ, प्रभु जाननहार जनाया ॥५॥
 उपजे-विनसे जो यह परिणति, स्वांग समान दिखावे ।
 हुआ सहज माध्यस्थ भाव, नहीं हर्ष विषाद उपजावे ॥६॥
 स्वयं, स्वयं में तृप्त सदा ही, चित्स्वरूप विलसाऊँ ।
 हानि-वृद्धि नहीं होय कदाचित्, ज्ञायक सहज रहाऊँ ॥७॥
 पूर्ण स्वयं मैं स्वयं प्रभु हूँ, पर की नहीं अपेक्षा ।
 शक्ति अनन्त सदैव उछलती, परिणमती निरपेक्षा ॥८॥
 अक्षय स्वयं सिद्ध परमात्म, मंगलमय अविकारी ।
 स्वानुभूति विलसे अन्तर में, भागे भाव विकारी ॥९॥
 निरुपम ज्ञानानन्दमय जीवन, स्वाश्रय से प्रगटाया ।
 इन्द्रिय विषय असार दिखे, आनन्द स्वयं में पाया ॥१०॥
 नहीं प्रयोजन रहा शेष कुछ, देह रहे या जावे ।
 भिन्न सर्वथा दिखे अभी ही, नहीं अपनत्व दिखावे ॥११॥

द्रव्यप्राण तो पुद्गलमय हैं, मुझसे अति ही न्यारे।
 शाश्वत चैतन्यमय अन्तर में, भावप्राण सुखकारे ॥१२॥
 उनही से ध्रुव जीवन मेरा, नाश कभी नहीं होवे।
 अहो महोत्सव के अवसर में, कौन मूढ़जन रोवे? ॥१३॥
 खेद न किञ्चित् मन में मेरे, निर्ममता हितकारी।
 ज्ञाता-द्रष्टा रहूँ सहज ही, भाव हुए अविकारी ॥१४॥
 आनन्द मेरे उर न समावे, निर्ग्रन्थ रूप सु धारूँ।
 तोरि सकल जगद्वन्द्व-फन्द, निज ज्ञायकभाव सम्हारूँ ॥१५॥
 धन्य सुकौशल आदि मुनीश्वर हैं, आदर्श हमारे।
 हो उपसर्गजयी समता से, कर्मशत्रु निरवारे ॥१६॥
 ज्ञानशरीरी अशरीरी प्रभु शाश्वत् शिव में राजें।
 भावसहित तिनके सुमरण तैं, भव-भव के अघ भाजें ॥१७॥
 उन समान ही निजपद ध्याऊँ, जाननहार रहाऊँ।
 काल अनन्त रहूँ आनन्द में, निज में ही रम जाऊँ ॥१८॥
 क्षणभंगुरता पर्यायों की, लखकर मोह निवारो।
 अरे! जगतजन द्रव्यदृष्टि धर, अपना रूप सम्हारो ॥१९॥
 क्षमाभाव है सबके ही प्रति, सावधान हूँ निज में।
 पाने योग्य स्वयं में पाया, सहज तृप्त हूँ निज में ॥२०॥
 साम्यभाव धरि कर्म विडारूँ, अपने गुण प्रगटाऊँ ॥
 अनुपम शाश्वत प्रभुता पाऊँ, आवागमन मिटाऊँ ॥२१॥

(दोहा)

शान्त हुआ कृतकृत्य हुआ, निर्विकल्प निज माँहिं।
 तिष्ठूँ परमानन्दमय, अविनाशी शिव माँहिं ॥२२॥

बारह भावना

(दोहा)

निज स्वभाव की दृष्टि धर, बारह भावन भाय ।
माता है वैराग्य की, चिन्तत सुख प्रकटाय ॥

अनित्य भावना

मैं आत्मा नित्य स्वभावी हूँ, ना क्षणिक पदार्थों से नाता ।
संयोग शरीर कर्म रागादिक, क्षणभंगुर जानो भ्राता ॥
इनका विश्वास नहीं चेतन, अब तो निज की पहिचान करो ।
निज ध्रुव स्वभाव के आश्रय से ही, जन्मजरामृत रोग हरो ॥

अशरण भावना

जो पाप बन्ध के हैं निमित्त, वे लौकिक जन तो शरण नहीं ।
पर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु भी, अवलम्बन हैं व्यवहार सही ॥
निश्चय से वे भी भिन्न अहो ! उन सम निज लक्ष्य करो आत्मन् ।
निज शाश्वत ज्ञायक ध्रुव स्वभाव ही, एक मात्र है अवलम्बन ॥

संसार भावना

ये बाह्य लोक संसार नहीं, ये तो मुझ सम सत् द्रव्य अरे ।
नहिं किसी ने मुझको दुःख दिया, नहिं कोई मुझको सुखी करे ॥
निज मोह राग अरु द्वेष भाव से, दुख अनुभूति की अबतक ।
अतएव भाव संसार तजूँ, अरु भोगूँ सच्चा सुख अविचल ॥

एकत्व भावना

मैं एक शुद्ध निर्मल अखण्ड, पर से न हुआ एकत्व कभी ।
जिनको निज मान लिया मैंने, वे भी तो पर प्रत्यक्ष सभी ॥
नहीं स्व-स्वामी सम्बन्ध बने, माना वह भूल रही मेरी ।
निज में एकत्व मान कर के, अब मेटूँगा भव-भव फेरी ॥

अन्यत्व भावना

जो भिन्न चतुष्टय वाले हैं, अत्यन्ताभाव सदा उनमें ।
गुण पर्यय में अन्यत्व अरे, प्रदेशभेद नहिं है जिनमें ॥

इस सम्बन्धी विपरीत मान्यता से, संसार बढ़ाया है।
निज तत्त्व समझ में आने से, समरस निज में ही पाया है ॥

अशुचि भावना

है ज्ञानदेह पावन मेरी, जड़देह राग के योग्य नहीं।
यह तो मलमय मल से उपजी, मल तो सुखदायी कभी नहीं ॥
भो आत्मन् श्री गुरु ने, रागादिक को अशुचि अपवित्र कहा।
अब इनसे भिन्न परम पावन, निज ज्ञानस्वरूप निहार अहा ॥

आस्रव भावना

मिथ्यात्व कषाय योग द्वारा, कर्मों को नित्य बुलाया है।
शुभ-अशुभभाव क्रिया द्वारा, नित दुख का जाल बिछाया है ॥
पिछले कर्मोदय में जुड़कर, कर्मों को ही छोड़ा बाँधा।
ना ज्ञाता-दृष्टा मात्र रहा, अब तक शिवमार्ग नहीं साधा ॥

संवर भावना

मिथ्यात्व अभी सत् श्रद्धा से, व्रत से अविरति का नाश करूँ।
मैं सावधान निज में रहकर, निःकषाय भाव उद्योत करूँ ॥
शुभ-अशुभ योग से भिन्न, आत्म में निष्कम्पित हो जाऊँगा।
संवरमय ज्ञायक आश्रय कर, नव कर्म नहीं अपनाऊँगा ॥

निर्जरा भावना

नव आस्रव पूर्वक कर्म तजे, इससे बन्धन न नष्ट हुआ।
अब कर्मोदय को ना देखूँ, ज्ञानी से यही विवेक मिला ॥
इच्छा उत्पन्न नहीं होवें, बस कर्म स्वयं झड़ जावेंगे।
जब किञ्चित् नहीं विभाव रहें, गुण स्वयं प्रगट हो जावेंगे ॥

लोक भावना

परिवर्तन पंच अनेक किये, सम्पूर्ण लोक में भ्रमण किया।
ना कोई क्षेत्र रहा ऐसा, जिस पर ना हमने जन्म लिया ॥
नरकों स्वर्गों में घूम चुका, अतएव आश सबकी छोड़ूँ।
लोकाग्र शिखर पर थिर होऊँ, बस निज में ही निज को जोड़ूँ ॥

बोधिदुर्लभ भावना

सामग्री सभी सुलभ जग में, बहुबार मिली छूटी मुझसे।
कल्याणमूल रत्नत्रय परिणति, अब तक दूर रही मुझसे ॥
इसलिए न सुख का लेश मिला, पर में चिरकाल गँवाया है।
सद्बोधिहेतु पुरुषार्थ करूँ, अब उत्तम अवसर पाया है ॥

धर्म भावना

शुभ-अशुभ कषायों रहित होय, सम्यक्चारित्र प्रगटाऊँगा।
बस निज स्वभाव साधन द्वारा, निर्मल अनर्घ्यपद पाऊँगा ॥
माला तो बहुत जपी अबतक, अब निज में निज का ध्यान धरूँ।
कारण परमात्मा अब भी हूँ, पर्यय में प्रभुता प्रकट करूँ ॥
(दोहा)

ध्रुव स्वभाव सुखरूप है, उसको ध्याऊँ आज।
दुखमय राग विनष्ट हो, पाऊँ सिद्ध समाज ॥

वैराग्य भावना

(दोहा)

बीज राख फल भोगवै, ज्यों किसान जगमाहिं।
त्यों चक्री नृप सुख करै, धर्म विसारै नाहिं ॥१॥

(जोगीरासा वा नरेंद्र छंद)

इहविध राज करै नर नायक, भोगे पुण्य विशाल।
सुख सागर में रमत निरन्तर, जात न जान्यो काल ॥
एक दिवस शुभ कर्म संजोगे, क्षेमंकर मुनि वन्दे।
देखे श्रीगुरु के पद पंकज, लोचन अलि आनन्दे ॥२॥
तीन प्रदक्षिण दे शिर नायो, कर पूजा थुति कीनी।
साधु समीप विनय कर बैठ्यौ, चरनन में दिठि दीनी ॥

गुरु उपदेश्यो धर्म शिरोमणि, सुन राजा वैरागे।
 राज-रमा-वनितादिक जे रस, ते रस बेरस लागे ॥३॥
 मुनिसूरज कथनी किरणावलि, लगत भरमबुधि भागी।
 भवतनभोग स्वरूप विचास्यो, परम धरम अनुरागी ॥
 इह संसार महावन भीतर, भ्रमते ओर न आवै।
 जामन मरन जरा दव दाझै, जीव महादुख पावै ॥४॥
 कबहूँ जाय नरक थिति भुंजै, छेदन-भेदन भारी।
 कबहूँ पशु परजाय धरै तहँ, बध-बंधन-भयकारी ॥
 सुरगति में पर-संपति देखे, राग उदय दुःख होई।
 मानुषयोनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नहिं कोई ॥५॥
 कोई इष्ट वियोगी विलखै, कोई अनिष्ट संयोगी।
 कोई दीन दरिद्री विगूचे, कोई तन के रोगी ॥
 किसही घर कलिहारी नारी, कै बैरी सम भाई।
 किसही के दुःख बाहिर दीखै, किस ही उर दुचिताई ॥६॥
 कोई पुत्र बिना नित झूरै, होय मरै तब रोवै।
 खोटी संतति सों दुःख उपजै, क्यों प्राणी सुख सोवै ॥
 पुण्य उदय जिनके तिनके भी, नाहिं सदा सुख साता।
 यह जगवास जथारथ देखे, सब दीखै दुःख दाता ॥७॥
 जो संसार विषै सुख होता, तीर्थकर क्यों त्यागे।
 काहे को शिव साधन करते, संजम सों अनुरागे ॥
 देह अपावन अथिर घिनावन, यामैं सार न कोई।
 सागर के जल सों शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई ॥८॥
 सप्त कुधातु भरी मल मूरत, चाम लपेटी सोहै।
 अन्तर देखत या सम जग में, अवर अपावन को है ॥
 नव मल द्वार स्रवै निशि-वासर, नाम लिये घिन आवै।
 व्याधि-उपाधि अनेक जहाँ तहँ, कौन सुधी सुख पावै ॥९॥

पोषत तो दुःख दोष करै अति, सोषत सुख उपजावै ।
 दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूर्ख प्रीति बढावै ॥
 राचन जोग स्वरूप न याको, विरचन जोग सही है ।
 यह तन पाय महातप कीजै, यामैं सार यही है ॥१०॥
 भोग बुरे भव रोग बढावैं, बैरी हैं जग जीके ।
 बेरस होंय विपाक समय अति, सेवत लागैं नीके ॥
 वज्र अगिनि विष से विषधर से, ये अधिके दुःखदाई ।
 धर्म रतन के चोर चपल अति, दुर्गति पंथ सहाई ॥११॥
 मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जानै ।
 ज्यों कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन मानै ॥
 ज्यों-ज्यों भोग संजोग मनोहर, मन वांछित जन पावै ।
 तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंकै, लहर जहर की आवै ॥१२॥
 मैं चक्रीपद पाय निरन्तर, भोगे भोग घनेरे ।
 तो भी तनक भये नहिं पूरन, भोग मनोरथ मेरे ॥
 राज समाज महा अघ कारण, बैर बढावन हारा ।
 वेश्यासम लक्ष्मी अतिचंचल, याका कौन पतियारा ॥१३॥
 मोह महारिपु बैर विचास्यो, जगजिय संकट डारे ।
 तन कारागृह वनिता बेड़ी, परिजन जन रखवारे ॥
 सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण-तप, ये जिय के हितकारी ।
 ये ही सार असार और सब, यह चक्री चितधारी ॥१४॥
 छोड़े चौदह रत्न नवों निधि, अरु छोड़े संग साथी ।
 कोड़ि अठारह घोड़े छोड़े, चौरासी लख हाथी ॥
 इत्यादिक सम्पति बहुतेरी, जीरणतृण सम त्यागी ।
 नीति विचार नियोगी सुत कों, राज्य दियो बड़भागी ॥१५॥

होय निःशल्य अनेक नृपति संग, भूषण वसन उतारे।
 श्री गुरु चरण धरी जिनमुद्रा, पंच महाव्रत धारे ॥
 धनि यह समझ सुबुद्धि जगोत्तम, धनि यह धीरज धारी।
 ऐसी सम्पति छोड़ बसे वन, तिनपद धोक हमारी ॥१६॥

(दोहा)

परिग्रह पोट उतार सब, लीनो चारित पंथ।
 निजस्वभाव में थिर भये, वज्रभाभि निरग्रंथ ॥१७॥

वैराग्य पच्चीसिका

रागादिक दूषण तजे, वैरागी जिनदेव।
 मन वच शीश नवाय के, कीजे तिनकी सेव ॥१॥
 जगत मूल यह राग है, मुक्ति मूल वैराग।
 मूल दुहुन को यह कह्यो, जाग सकै तो जाग ॥२॥
 क्रोध मान माया धरत, लोभ सहित परिणाम।
 ये ही तेरे शत्रु हैं, समझो आतम राम ॥३॥
 इनहीं चारों शत्रु को, जो जीते जगमाहिं।
 सो पावहिं पथ मोक्ष को, यामें धोखो नाहिं ॥४॥
 जा लक्ष्मी के काज तू खोवत है निज धर्म।
 सो लक्ष्मी संग ना चले, काहे भूलत मर्म ॥५॥
 जा कुटुम्ब के हेत तू, करत अनेक उपाय।
 सो कुटुम्ब अगनी लगा, तोकों देत जराय ॥६॥
 पोषत है जा देह को, जोग त्रिविध के लाय।
 सो तोकों छिन एक में, दगा देय खिर जाय ॥७॥
 लक्ष्मी साथ न अनुसरै, देह चले नहिं संग।
 काढ़-काढ़ सृजनहिं करें, देख जगत के रंग ॥८॥

दुर्लभ दस दृष्टान्त सम, सो नरभव तुम पाय।
 विषय सुखन के कारने, सर्वस चले गमाय ॥१॥
 जगहिं फिरत कई युग भये, सो कछु कियो विचार।
 चेतन अब तो चेतहू, नरभव लहि अतिसार ॥१०॥
 ऐसे मति विभ्रम भई, विषयनि लागत धाय।
 कै दिन कै छिन कै घरी, यह सुख थिर ठहराय ॥११॥
 पी तो सुधा स्वभाव की, जी तो कहूँ सुनाय।
 तू रीतो क्यों जातु है, वीतो नरभव जाय ॥१२॥
 मिथ्यादृष्टि निकृष्ट अति, लखै न इष्ट अनिष्ट।
 भ्रष्ट करत है शिष्ट को, शुद्ध दृष्टि दे पिष्ट ॥१३॥
 चेतन कर्म उपाधि तज, राग-द्वेष को संग।
 ज्यों प्रगटे परमात्मा, शिव सुख होय अभंग ॥१४॥
 ब्रह्म कहूँ तो मैं नहीं, क्षत्री हूँ पुनि नाहिं।
 वैश्य शूद्र दोऊ नहीं, चिदानन्द हूँ माहिं ॥१५॥
 जो देखै इहि नैन सों, सो सब बिनस्यो जाय।
 तासों जो अपनौ कहे, सो मूरख शिर राय ॥१६॥
 पुद्गल को जो रूप है, उपजे विनसै सोय।
 जो अविनाशी आतमा, सो कछु और न होय ॥१७॥
 देख अवस्था गर्भ की, कौन-कौन दुख होहिं।
 बहुरि मगन संसार में, सो लानत है तोहि ॥१८॥
 अधो शीश ऊरध चरन, कौन अशुचि आहार।
 थोरे दिन की बात यह, भूल जात संसार ॥१९॥
 अस्थि चर्म मल मूत्र में, रैन दिना को वास।
 देखें दृष्टि घिनावनो, तऊ न होय उदास ॥२०॥

रोगादिक पीड़ित रहे, महा कष्ट जो होय।
 तबहु मूर्ख जीव यह, धर्म न चिन्तै कोय ॥२१॥
 मरन समै विललात है, कोऊ लेहु बचाय।
 जाने ज्यों-त्यों जीजिये, जोर न कछु बसाय ॥२२॥
 फिर नरभव मिलिवो नहीं, किये हु कोट उपाय।
 तातें बेगहिं चेतहु, अहो जगत के राय ॥२३॥
 'भैया' की यह बीनती, चेतन चितहिं विचार।
 ज्ञान दर्श चारित्र में, आपो लेहु निहार ॥२४॥
 एक सात पंचास को, संवत्सर सुखकार।
 पक्ष सुकल तिथिधर्म की जैजै निशिपतिवार ॥२५॥

आत्म सम्बोधन (वैराग्यभावना)

हे चेतन ! तुम शान्तचित्त हो, क्यों न करो कुछ आत्मविचार।
 पुनः पुनः मिलना दुर्लभ है, मोक्ष योग्य मानव अवतार ॥
 भव विकराल भ्रमण में तुझको, हुई नहीं निजतत्त्व प्रतीति।
 छूटी नहीं अन्य द्रव्यों से, इस कारण से मिथ्या प्रीति ॥१॥
 संयोगों में दत्त चित्त हो, भूला तू अपने को आप।
 होने को ही सुखी निरन्तर, करता रहता अगणित पाप ॥
 सहने को तैयार नहीं जब, अपने पापों का परिणाम।
 त्याग उन्हें दृढ़ होकर मन में, कर स्वधर्म में ही विश्राम ॥२॥
 सत्य सौख्य का तुझे कभी भी, आता है क्या कुछ भी ध्यान।
 विषयजन्य उस सुखाभास को, मान रहा है सौख्य महान ॥
 भवसुख के ही लिए सर्वथा, करता रहता यत्न अनेक।
 जान-बूझकर फंसता दुःख में, भुला विमल चैतन्य विवेक ॥३॥
 मान कभी धन को सुख साधन, उसे जुटाता कर श्रम घोर।
 मलता रह जाता हाथों को, उसे चुरा लेते जब चोर ॥

आत्मशान्ति मिलती कब धन से, चिन्ताओं का है वह गेह।
 होने देता नहीं तनिक भी, मोक्ष साधनों से शुभ नेह ॥४॥
 दुग्धपान से ज्यों सर्पों में, होता अधिक गरल विस्तार।
 धन संचय से त्यों बढ़ते हैं, कभी-कभी मन में कुविचार ॥
 इसकी वृद्धि कभी मानव को, अहो बना देती है अन्ध।
 दुखिया से मिलने में इसको, आती हाय ! महा दुर्गन्ध ॥५॥
 हे चेतन धन की ममता वश, भोगे तुमने कष्ट अपार।
 देखो अपने अमर द्रव्य को, जहाँ सौख्य का पारावार ॥
 देवों का वैभव भी तुमको, करना पड़ा अन्त में त्याग।
 तो अब प्रभु के पदपंकज में, बनकर भ्रमर करो शुभ राग ॥६॥
 इन्द्र-भवन से बनवाता है, सुख के लिए बड़े प्रासाद।
 क्या तेरे यह संग चलेंगे, इसको भी तू करना याद ॥
 इस तन में से जिस दिन चेतन, कर जायेगा आप प्रयाण।
 जाना होगा उस घर से ही, तन को बिना रोक शमशान ॥७॥
 अपना-अपना मान जिन्हें तू, खिला-पिलाकर करता पुष्ट।
 अवसर मिलने पर वे ही जन, करते तेरा महा-अनिष्ट ॥
 ऐसी-ऐसी घटनाओं से, भरे हुए इतिहास पुराण।
 पढ़कर सुनकर नहीं समझता, यही एक आश्चर्य महान ॥८॥
 क्षण-क्षण करके नित्य निरन्तर, जाता है जीवन का काल।
 करता नहीं किन्तु यह चेतन, क्षण भर भी अपनी सम्भाल ॥
 दुःख इसे देता रहता है, इसका ही भीषण अज्ञान।
 सत्पुरुषों से रहे विमुख नित, प्रगटे लेश न सम्यग्ज्ञान ॥९॥
 मिला तुझे है मानव का भव, कर सत्वर ऐसा सदुपाय।
 मिले सौख्यनिधि अपनी उत्तम, जनम-मरण का दुःख टल जाय ॥

सुखप्रद वही एक है जीवन, जहाँ स्वच्छ है तत्त्व प्रधान ।
 बाकी तो मनुजों का जीवन, सचमुच तो है मृतक समान ॥१०॥
 सुखदायक क्या हुए किसी को, जगती में ये भीषण भोग ।
 अहि समान विकराल सर्वथा, जीवों को इनका संयोग ॥
 छली मित्र सम ऊपर से ये, दिखते हैं सुन्दर अत्यन्त ।
 पर इनकी रुचि मात्र विश्व में, कर देती जीवन का अन्त ॥११॥
 स्पर्शन इन्द्रिय के वश ही, देखो वनगज भी बलवान ।
 पड़कर के बन्धन में सहसा, सहता अविरल कष्ट महान ॥
 मरती स्वयं पाश में फंसकर, रसनासक्त चपल जलमीन ।
 सुध-बुध खो देता है अपनी, भ्रमर कमल में होकर लीन ॥१२॥
 दीपक पर पड़कर पतंग भी, देता चक्षु विवश निज प्राण ।
 सुनकर हिंसक-शब्द मनोहर, रहता नहीं हिरन को ध्यान ॥
 एक विषय में लीन जीव जब, पाता इतने कष्ट अपार ।
 पाँच इन्द्रियों के विषयों में, लीन सहेगा कितनी मार ॥१३॥
 जनम-जनम में की है चेतन, तूने सुख की ही अभिलाष ।
 हुआ नहीं फिर भी किञ्चित् कम, अबतक भी तेरा भववास ॥
 त्रिविध ताप से जलता रहता, अन्तरात्मा है दिन-रात ।
 कर सत्वर पुरुषार्थ सत्य तू, जग प्रपञ्च में देकर लात ॥१४॥
 रोगों का जिसमें निवास है, अशुचि पिण्ड ही है यह देह ।
 देख कौन सी इसमें सुषमा, करता है तू इस पर नेह ॥
 तेरे पीछे लगा हुआ है, हा ! अनादि का मोह पिशाच ।
 छुड़ा स्वच्छ रत्नों को प्रतिपल, ग्रहण कराता रहता काँच ॥१५॥
 भूल आप को क्षणिक देह में, तुझे हुआ जो राग अपार ।
 बढ़ता रहता राग-द्वेष से, महादुःखद तेरा संसार ॥

त्याग देह की ममता सारी, सद्गुरुओं के चरण उपास ।
 तो छूटेगा यहाँ सहज में, तेरा दुःखदायी भवपाश ॥१६॥
 जड़ तन में आत्मत्वबुद्धि ही, सकल दुखों का है दृढमूल ।
 देहाश्रित भावों को अपना, मान भयंकर करता भूल ॥
 जो-जो तन मिलता है तुझको, उसी रूप बन जाता आप ।
 फिर उसके परिवर्तन को लख, होता है तुझको संताप ॥१७॥
 हो विरक्त तू भव भोगों से, ले श्री जिनवर का आधार ।
 रहकर सत्सङ्गति में निशदिन, कर उत्तम निजतत्त्व विचार ॥
 निज विचार बिन इन कष्टों का, होगा नहीं कभी भी अन्त ।
 दुःख का हो जब नाश सर्वथा, विकसित हो तब सौख्य बसंत ॥१८॥
 बिन कारण ही अन्य प्राणियों पर, करता रहता है रोष ।
 'मैं महान' कर गर्व निरन्तर, मन में धरता है सन्तोष ॥
 बना रहा जीवन जगती में, यह मानव बन कपट प्रधान ।
 निज का वैभव तनिक न देखा, पर का कीना लोभ निदान ॥१९॥
 करमबन्ध होता कषाय से, करो प्रथम इनका संहार ।
 राग-द्वेष की ही परिणति से, होता है विस्तृत संसार ॥
 दुःख की छाया में बैठे हैं, मिलकर भू पर रंक नरेश ।
 प्रगट किसी का दुःख दिखता है, और किसी के मन में क्लेश ॥२०॥
 जिन्हें समझता सुख निधान तू, पूछ उन्हीं से मन की बात ।
 कर निर्धार सौख्य का सत्वर, करो मोह राजा का घात ॥
 जिन्हें मानता तू सुखदायक, मिली कौन-सी उनसे शान्ति ।
 दुख में होती रही सहायक, दिन दूनी तेरी ही भ्रान्ति ॥२१॥
 कर केवल अब आत्मभावना, पर-विषयों से मुख को मोड़ ।
 मोक्षसाधना में निजमन को, तज विकल्प पर निशिदिन जोड़ ॥

कर्म और उसके फल से भी, भिन्न एक अपने को जान ।
 सिद्ध सदृश अपने स्वरूप का, कर चेतन दृढतम श्रद्धान ॥२२॥
 तूने अपने ही हाथों से, बिछा लिया है भीषण जाल ।
 नहीं छूटता है अब इससे, ममता वश सारा जंजाल ॥
 छोड़े बिना नहीं पावेगा, कभी शान्ति का नाम निशान ।
 परमशान्ति के लिए अलौकिक, कर अब तू बोधामृत पान ॥२३॥
 शत्रु मित्र की छोड़ कल्पना, सुख-दुख में रख समता भाव ।
 रत्न और तृण में रख समता, जान वस्तु का अचल स्वभाव ॥
 निन्दा सुनकर दुखित न हो तू, यशोगान सुन हो न प्रसन्न ।
 मरण और जीवन में सम हो, जगत इन्द्र सब ही हैं भिन्न ॥२४॥
 इस संसार भ्रमण में चेतन, हुआ भूप कितनी ही बार ।
 क्षीण पुण्य होते ही तू तो, हुआ कीट भी अगणित बार ॥
 प्राप्त दिव्य मानव जीवन में, कर न कभी तू लेश ममत्व ।
 करके दूर चित्त अस्थिरता, समझ सदा अपना अपनत्व ॥२५॥
 पर गुण-पर्यायों में चेतन, त्यागो तुम अब अपनी दौड़ ।
 कर विचार शुचि आत्मद्रव्य का, परपरिणति से मुख को मोड़ ॥
 एक शुद्ध चेतन अपना ही, ग्रहण योग्य है जग में सार ।
 शान्तचित्त हो पर-पुद्गल से, हटा शीघ्र अपना अधिकार ॥२६॥

परमार्थ विंशतिका

राग-द्वेष की परिणति के वश, होते नाना भाँति विकार ।
 जीव मात्र ने उन भावों को, देखा सुना अनेकों बार ॥
 किन्तु न जाना आत्मतत्त्व को, है अलभ्य सा उसका ज्ञान ।
 भव्यों से अभिवन्दित है नित, निर्मल यह चेतन भगवान ॥१॥
 अर्न्तबाह्य विकल्प जाल से, रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप ।
 शान्त और कृत-कृत्य सर्वथा, दिव्य अनन्त चतुष्टय रूप ॥

छूती उसे न भय की ज्वाला, जो है समता रस में लीन ।
 वन्दनीय वह आत्म-स्वस्थता, हो जिससे आत्मिक सुखपीन ॥२॥
 एक स्वच्छ एकत्व ओर भी, जाता है जब मेरा ध्यान ।
 वही ध्यान परमात्म तत्त्व का, करता कुछ आनन्द प्रदान ॥
 शील और गुण युक्त बुद्धि जो, रहे एकता में कुछ काल ।
 हो प्रगटित आनन्द कला वह, जिसमें दर्शन ज्ञान विशाल ॥३॥
 नहीं कार्य आश्रित मित्रों से, नहीं और इस जग से काम ।
 नहीं देह से नेह लेश अब, मुझे एकता में आराम ॥
 विश्वचक्र में संयोगों वश, पाये मैंने अतिशय कष्ट ।
 हुआ आज सबसे उदास मैं, मुझे एकता ही है इष्ट ॥४॥
 जाने और देखता सबको, रहे तथा चैतन्य स्वरूप ।
 श्रेष्ठ तत्त्व है वही विश्व में, उसी रूप मैं नहिं पररूप ॥
 राग द्वेष तन मन क्रोधादिक, सदा सर्वथा कर्मोत्पन्न ।
 शत-शत शास्त्रश्रवण कर मैंने, किया यही दृढ़ यह सब भिन्न ॥५॥
 दुषमकाल अब शक्ति हीन तन, सहे नहीं परीषह का भार ।
 दिन-दिन बढ़ती है निर्बलता, नहीं तीव्र तप पर अधिकार ॥
 नहीं कोई दिखता है अतिशय, दुष्कर्मों से पाऊँ त्रास ।
 इन सबसे क्या मुझे प्रयोजन, आत्मतत्त्व का है विश्वास ॥६॥
 दर्शन ज्ञान परम सुखमय मैं, निज स्वरूप से हूँ द्युतिमान ।
 विद्यमान कर्मों से भी है, भिन्न शुद्ध चेतन भगवान ॥
 कृष्ण वस्तु की परम निकटता, बतलाती मणि को सविकार ।
 शुद्ध दृष्टि से जब विलोकते, मणि स्वरूप तब तो अविकार ॥७॥
 राग-द्वेष वर्णादि भाव सब, सदा अचेतन के हैं भाव ।
 हो सकते वे नहीं कभी भी, शुद्ध पुरुष के आत्मस्वभाव ॥

तत्त्व-दृष्टि हो अन्तरंग में, जो विलोकता स्वच्छ स्वरूप।
 दिखता उसको परभावों से, रहित एक निज शुद्ध स्वरूप॥८॥
 पर पदार्थ के इष्टयोग को, साधु समझते हैं आपत्ति।
 धनिकों के संगम को समझें, मन में भारी दुःखद विपत्ति॥
 धन मदिरा के तीव्रपान से, जो भूपति उन्मत्त महान।
 उनका तनिक समागम भी तो, लगता मुनि को मरण समान॥९॥
 सुखदायक गुरुदेव वचन जो, मेरे मन में करें प्रकाश।
 फिर मुझको यह विश्व शत्रु बन, भले सतत दे नाना त्रास॥
 दे न जगत भोजन तक मुझको, हो न पास में मेरे वित्त।
 देख नग्न उपहास करें जन, तो भी दुःखित नहीं हो चित्त॥१०॥
 दुःख व्याल से पूरित भव वन, हिंसा अघद्रुम जहाँ अपार।
 ठौर-ठौर दुर्गति-पल्लीपति, वहाँ भ्रमे यह प्राणि अपार॥
 सुगुरु प्रकाशित दिव्य पंथ में, गमन करे जो आप मनुष्य।
 अनुपम-निश्चल मोक्षसौख्य को, पा लेता वह त्वरित अवश्य॥११॥
 साता और असाता दोनों कर्म और उसके हैं काज।
 इसीलिए शुद्धात्म तत्त्व से, भिन्न उन्हें माने मुनिराज॥
 भेद भावना में ही जिनका, रात-दिवस रहता है वास।
 सुख-दुःखजन्य विकल्प कहाँ से, रहते ऐसे भवि के पास॥१२॥
 देव और प्रतिमा पूजन का, भक्ति भाव सह रहता ध्यान।
 सुनें शास्त्र गुरुजन को पूजें, जब तक है व्यवहार प्रधान॥
 निश्चय से समता से निज में, हुई लीन जो बुद्धि विशिष्ट।
 वही हमारा तेज पुंजमय, आत्मतत्त्व सबसे उत्कृष्ट॥१३॥
 वर्षा हरे हर्ष को मेरे, दे तुषार तन को भी त्रास।
 तपे सूर्य मेरे मस्तक पर, काटें मुझको मच्छर डांस॥

आकर के उपसर्ग भले ही, कर दें इस काया का पात ।
 नहीं किसी से भय है मुझको, जब मन में है तेरी बात ॥१४॥
 मुख्य आँख इन्द्रिय कर्षकमय, ग्राम सर्वथा मृतक समान ।
 रागादिक कृषि से चेतन को, भिन्न जानना सम्यक्ज्ञान ॥
 जो कुछ होना हो सो होगा, करूँ व्यर्थ ही क्यों मैं कष्ट ?
 विषयों की आशा तज करके, आराधूँ मैं अपना इष्ट ॥१५॥
 कर्मों के क्षय से उपशम से, अथवा गुरु का पा उपदेश ।
 बनकर आत्मतत्त्व का ज्ञाता, छोड़े जो ममता निःशेष ॥
 करें निरन्तर आत्म-भावना, हों न दुःखों से जो संतप्त ।
 ऐसा साधु पाप से जग में, कमलपत्र सम हो नहीं लिप्त ॥१६॥
 गुरु करुणा से मुक्ति प्राप्ति के, लिए बना हूँ मैं निर्ग्रन्थ ।
 उसके सुख से इन्द्रिय सुख को, माने चित्त दुःख का पंथ ॥
 अपनी भूल विवश नर तब तक, लेता रहा खली का स्वाद ।
 जबतक उसे स्वच्छ मधु रसमय, नहीं शर्करा का हो स्वाद ॥१७॥
 ध्यानाश्रित निर्ग्रन्थ भाव से, मुझे हुआ है जो आनन्द ।
 दुर्ध्यानाक्ष सुखों का तो फिर, कैसे करे स्मरण मतिमन्द ?
 ऐसा कौन मनुज है जग में, तज करके जो जलता गेह ।
 छोड़ वापिका का शीतल जल, पड़े अग्नि में आप सनेह ॥१८॥
 मोह जन्य मोक्षाभिलाषि भी, करे मोक्ष का स्वयं विरोध ।
 अन्य द्रव्य की करें न इच्छा, जिन्हें तत्त्व का है शुभ बोध ॥
 आलोचन में दत्तचित्त नित, शुद्ध आत्म का जिन्हें विचार ।
 तत्त्व ज्ञान में तत्पर मुनिजन ग्रहें नहीं ममता का भार ॥१९॥
 इस निर्मल चेतन के सुख का, जिस क्षण आता है आस्वाद ।
 विषय नष्ट होते सारे तब, रस समस्त लगते निस्वाद ॥

होती दूर देह की ममता, मन वाणी हो जाते मौन।
 गोष्ठी कथा, कुतूहल छूटें, उस सुख को नर जाने कौन ॥२०॥
 वचनातीत, पक्ष च्युत सुन्दर निश्चय नय से है यह तत्त्व।
 व्यवहृति पथ में प्राप्त शिष्य, वचनों द्वारा समझें आत्मत्व ॥
 करूँ तत्त्व का दिव्य कथन मैं, नहीं यहाँ वह शक्ति समृद्धि।
 जान अशक्त आपको इसमें, मौन रहे मुझसा जड़बुद्धि ॥२१॥

अमूल्य तत्त्व विचार

बहु पुण्य-पुंज प्रसंग से शुभ देह मानव का मिला।
 तो भी अरे! भव चक्र का, फेरा न एक कभी टला ॥
 सुख-प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते, सुख जाता दूर है।
 तू क्यों भयंकर भाव-मरण, प्रवाह में चकचूर है ॥१॥
 लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये।
 परिवार और कुटुम्ब है क्या? वृद्धिनय पर तोलिये ॥
 संसार का बढ़ना अरे! नर देह की यह हार है।
 नहीं एक क्षण तुझको अरे! इसका विवेक विचार है ॥२॥
 निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द, लो जहाँ भी प्राप्त हो।
 यह दिव्य अन्तःतत्त्व जिससे, बन्धनों से मुक्त हो ॥
 पर वस्तु में मूर्छित न हो, इसकी रहे मुझको दया।
 वह सुख सदा ही त्याज्य रे! पश्चात् जिसके दुख भरा ॥३॥
 मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?
 सम्बन्ध दुखमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार क्या ॥
 इसका विचार विवेकपूर्वक, शान्त होकर कीजिये।
 तो सर्व आत्मिकज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिये ॥४॥

किसका वचन उस तत्त्व की, उपलब्धि में शिवभूत है ।
निर्दोष नर का वचन रे! वह स्वानुभूति प्रसूत है ॥
तारो अरे! तारो निजात्मा, शीघ्र अनुभव कीजिये ।
सर्वात्म में समदृष्टि दो, यह वच हृदय लिख लीजिये ॥५॥

सांत्वनाष्टक

शान्तचित्त हो निर्विकल्प हो, आत्मन् निज में तृप्त रहो ।
व्यग्र न होओ क्षुब्ध न होओ, चिदानन्द रस सहज पिओ ॥७॥
स्वयं स्वयं में सर्व वस्तुएँ, सदा परिणमित होती हैं ।
इष्ट-अनिष्ट न कोई जग में, व्यर्थ कल्पना झूठी है ॥
धीर-वीर हो मोहभाव तज, आत्म-अनुभव किया करो ॥१॥ व्यग्र ॥
देखो प्रभु के ज्ञान माँहिं, सब लोकालोक झलकता है ।
फिर भी सहज मग्न अपने में, लेश नहीं आकुलता है ॥
सच्चे भक्त बनो प्रभुवर के ही पथ का अनुसरण करो ॥२॥ व्यग्र ॥
देखो मुनिराजों पर भी, कैसे-कैसे उपसर्ग हुए ।
धन्य-धन्य वे साधु साहसी, आराधन से नहीं चिगे ॥
उनको निज-आदर्श बनाओ, उर में समताभाव धरो ॥३॥ व्यग्र ॥
व्याकुल होना तो, दुख से बचने का कोई उपाय नहीं ।
होगा भारी पाप बंध ही, होवे भव्य अपाय^१ नहीं ॥
ज्ञानाभ्यास करो मन माहीं, दुर्विकल्प दुखरूप तजो ॥४॥ व्यग्र ॥
अपने में सर्वस्व है अपना, परद्रव्यों में लेश नहीं ।
हो विमूढ़ पर में ही क्षण-क्षण, करो व्यर्थ संकलेश नहीं ॥
अरे विकल्प अकिंचित्कर ही, ज्ञाता हो ज्ञाता ही रहो ॥५॥ व्यग्र ॥
अन्तर्दृष्टि से देखो नित, परमानन्दमय आत्मा ।
स्वयंसिद्ध निर्द्वन्द्व निरामय, शुद्ध बुद्ध परमात्मा ॥
आकुलता का काम नहीं कुछ, ज्ञानानन्द का वेदन हो ॥६॥ व्यग्र ॥

सहज तत्त्व की सहज भावना, ही आनन्द प्रदाता है ।
 जो भावे निश्चय शिव पावे, आवागमन मिटाता है ॥
 सहजतत्त्व ही सहज ध्येय है, सहजरूप नित ध्यान धरो ॥७॥ व्यग्र ॥
 उत्तम जिन वचनमृत पाया, अनुभव कर स्वीकार करो ।
 पुरुषार्थी हो स्वाश्रय से इन, विषयों का परिहार करो ॥
 ब्रह्मभावमय मंगल चर्या, हो निज में ही मग्न रहो ॥८॥ व्यग्र ॥

ब्रह्मचर्य द्वादशी

ब्रह्मचर्य की अद्भुत महिमा, आज बताऊँ भली-भली ।
 ब्रह्मचर्य बिन जीवन निष्फल, बात कहूँ मैं खरी-खरी ॥टेक॥
 निज सुख शान्ति निज में ही है, बाहर कहीं न पाओगे ।
 व्यर्थ भ्रमे हो और भ्रमोगे, समय चूक पछताओगे ॥
 भोगों में तो फँस कर भाई, तुमने भारी विपद भरी ॥ब्रह्म ॥१॥
 जैसे बड़ी-बड़ी नदियों पर, बाँध बँधे देखे होंगे ।
 सोचो बाँध टूट जावे तो, क्यों नहीं नगर नष्ट होंगे ॥
 ब्रह्मचर्य का बाँध टूटने से, बरबादी घड़ी-घड़ी ॥ब्रह्म ॥२॥
 भोगों का घेरा ऐसा है, बाहर वाले ललचावें ।
 फँसने वाले भी पछतावें, सुख नहीं कोई पावें ॥
 धोखे में आवे नहीं ज्ञानी, शुद्धात्म की प्रीति धरी ॥ब्रह्म ॥३॥
 पहले तो मिलना ही दुर्लभ, मिल जावें तो भोग कठिन ।
 भोगों से तृष्णा ही बढ़ती, इनसे होना तृप्ति कठिन ॥
 पाप कमावे धर्म गमावे, घूमे भव की गली-गली ॥ब्रह्म ॥४॥
 बत्ती तेल प्रकाश नाश ज्यों, दीपक धुआँ उगलता है ।
 रत्नत्रय को नाश मूढ, भोगों में फँसकर हँसता है ॥
 सन्निपात का ही यह हँसना, सन्मुख जिसके मौत खड़ी ॥ब्रह्म ॥५॥

सर्वव्रतों में चक्रवर्ती अरु, सब धर्मों में सार कहा ।
 अनुपम महिमा ब्रह्मचर्य की, शिवमारग शिवरूप अहा ॥
 ब्रह्मचर्य धारी ज्ञानी के, निजानन्द की झरे झड़ी ॥ब्रह्म॥६॥
 पर-स्त्री संग त्याग मात्र से, ब्रह्मचर्य नहीं होता है ।
 पंचेन्द्रिय के विषय छूट कर, निज में होय लीनता है ॥
 अतीचार जहाँ लगे न कोई, ब्रह्म भावना घड़ी-घड़ी ॥ब्रह्म॥७॥
 सर्व कषायें अब्रह्म जानो, राग कुशील कहा दुखकार ।
 सर्व विकारों की उत्पादक, पर-दृष्टि ही महा विकार ॥
 द्रव्यदृष्टि शुद्धात्म लीनता, ब्रह्मचर्य सुखकार यही ॥ब्रह्म॥८॥
 सबसे पहले तत्त्वज्ञान कर, स्वपर भेद-विज्ञान करो ।
 निजानन्द का अनुभव करके, भोगों में सुखबुद्धि तजो ॥
 कोमल पौधे की रक्षा हित, शील बाढ़ नौ करो खड़ी ॥ब्रह्म॥९॥
 समता रस से उसे सींचना, सादा जीवन तत्त्व विचार ।
 सत्संगति अरु ब्रह्म भावना, लगे नहीं किंचित् अतिचार ॥
 कमजोरी किंचित् नहीं लाना, बाधायें हों बड़ी-बड़ी ॥ब्रह्म॥१०॥
 मर्यादा का करें उल्लंघन, जग में भी संकट पावें ।
 निज मर्यादा में आते ही, संकट सारे मिट जावें ॥
 निजस्वभाव सीमा में आओ, पाओ अविचल मुक्ति मही ॥ब्रह्म॥११॥
 चिंता छोड़ो स्वाश्रय से ही, सर्व विकल्प नशायेंगे ।
 कर्म छोड़ खुद ही भागेंगे, गुण अनन्त प्रगटायेंगे ॥
 'आत्मन्' निज में ही रम जाओ, आई मंगल आज घड़ी ॥ब्रह्म॥१२॥

तृष्णावान को कोई सुखी करने में समर्थ नहीं और संतोषी
 को कोई दुखी करने में समर्थ नहीं ।

विपरीत-विचार विकार का जनक है और तत्त्व-विचार
 विकार के नाश का बुद्धिपूर्वक उपाय है ।

ज्ञानाष्टक

निरपेक्ष हूँ कृतकृत्य मैं, बहु शक्तियों से पूर्ण हूँ।
 मैं निरालम्बी मात्र ज्ञायक, स्वयं में परिपूर्ण हूँ॥
 पर से नहीं सम्बन्ध कुछ भी, स्वयं सिद्ध प्रभु सदा।
 निर्बाध अरु निःशंक निर्भय, परम आनन्दमय सदा॥१॥

निज लक्ष से होऊँ सुखी, नहीं शेष कुछ अभिलाष है।
 निज में ही होवे लीनता, निज का हुआ विश्वास है॥
 अमूर्तिक चिन्मूर्ति मैं, मंगलमयी गुणधाम हूँ।
 मेरे लिए मुझसा नहीं, सच्चिदानन्द अभिराम हूँ॥२॥

स्वाधीन शाश्वत मुक्त अक्रिय अनन्त वैभववान हूँ।
 प्रत्यक्ष अन्तर में दिखे, मैं ही स्वयं भगवान हूँ॥
 अव्यक्त वाणी से अहो, चिन्तन न पावे पार है।
 स्वानुभव में सहज भासे, भाव अपरम्पार है॥३॥

श्रद्धा स्वयं सम्यक् हुई, श्रद्धान ज्ञायक हूँ हुआ।
 ज्ञान में बस ज्ञान भासे, ज्ञान भी सम्यक् हुआ॥
 भग रहे दुर्भाव सम्यक्, आचरण सुखकार है।
 ज्ञानमय जीवन हुआ, अब खुला मुक्ति द्वार है॥४॥

जो कुछ झलकता ज्ञान में, वह ज्ञेय नहीं बस ज्ञान है।
 नहीं ज्ञेयकृत किंचित् अशुद्धि, सहज स्वच्छ सुज्ञान है॥
 परभाव शून्य स्वभाव मेरा, ज्ञानमय ही ध्येय है।
 ज्ञान में ज्ञायक अहो, मम ज्ञानमय ही ज्ञेय है॥५॥

ज्ञान ही साधन, सहज अरु ज्ञान ही मम साध्य है।
 ज्ञानमय आराधना, शुद्ध ज्ञान ही आराध्य है॥
 ज्ञानमय ध्रुव रूप मेरा, ज्ञानमय सब परिणमन।
 ज्ञानमय ही मुक्ति मम, मैं ज्ञानमय अनादिनिधन॥६॥

ज्ञान ही है सार जग में, शेष सब निस्सार है ।
 ज्ञान से च्युत परिणमन का नाम ही संसार है ॥
 ज्ञानमय निजभाव को बस भूलना अपराध है ।
 ज्ञान का सम्मान ही, संसिद्धि सम्यक् राध* है ॥७॥
 अज्ञान से ही बंध, सम्यग्ज्ञान से ही मुक्ति है ।
 ज्ञानमय संसाधना, दुख नाशने की युक्ति है ॥
 जो विराधक ज्ञान का, सो डूबता मंझधार है ।
 ज्ञान का आश्रय करे, सो होय भव से पार है ॥८॥
 यों जान महिमाज्ञान की, निजज्ञान को स्वीकार कर ।
 ज्ञान के अतिरिक्त सब, परभाव का परिहार कर ॥
 निजभाव से ही ज्ञानमय हो, परम-आनन्दित रहो ।
 होय तन्मय ज्ञान में, अब शीघ्र शिव-पदवी धरो ॥९॥

पथिक-संदेश

अरे क्यों इधर भटकता है ?

मूढ़ पथिक ! क्यों इस अटवी के निकट फटकता है ? ॥८॥
 यह संसार महा अटवी है, विषय चोर दुख रूप ।
 लूट रहे धोखा दे दे कर, तेरी निधि चिद्रूप ॥
 शीघ्र क्यों नहीं सटकता है ? अरे क्यों इधर भटकता है ॥१॥
 मरु भूमि सम है ये नीरस, यहाँ क्यों बैठा आय ! ।
 भाग यहाँ से अरे पथिक! तू अब मत धोखा खाय ॥
 यहाँ तू व्यर्थ ठिठकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥२॥
 इस वन के भीतर रहते हैं, पंच इन्द्रिय मय चोर ।
 उनका नृत्य मनोहर है, ज्यों वन में नाचे मोर ॥
 देख क्यों व्यर्थ बहकता है ? अरे क्यों इधर भटकता है ॥३॥

* आराधना, प्रसन्नता

पथरीली यह भूमि भयानक, खड़े झाड़ झंखाड़।
 तेरे सर पर खड़ा हुआ है, काल सिंह मुँह फाड़॥
 अभी आ तुझे गटकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥४॥
 आगे तेरे महा भयानक, है दुर्गम पथ देख।
 फँसा आज तू बीच भंवर में, इसमें मीन न मेख॥
 देखकर हृदय धड़कता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥५॥
 कई बार धोखा खाकर तू, खोया सब धन माल।
 बचा खुचा धन यहाँ खोयेगा, होगा अब कंगाल॥
 व्यर्थ तू यहाँ अटकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ?॥६॥
 तू क्षण-सुख पाकर के मूर्ख, बैठा है सुख मान।
 किन्तु लुटेरा खड़ा सामने, लेकर तीर कमान॥
 झपट सब रकम झपटता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥७॥
 इस अटवी के गहन स्थल में, क्यों तू रहा लुभाय ?।
 बिछा जाल माया का यहाँ पर, सभी रहे पछताय॥
 देखकर हृदय धड़कता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥८॥
 इधर-उधर क्या देख रहा है, मनो-विनोदी राग।
 इनके भीतर छुपी हुई है महा भयानक आग॥
 इन्हीं में महा कटुकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥९॥
 खाता ठोकर तू पथ-पथ पर, पाता है सन्ताप।
 इधर-उधर तू भटक-भटक कर, आता अपने आप॥
 गठरिया यहीं पटकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥१०॥
 क्यों उन्मत्त भया है मूर्ख, आँख खोलकर देख।
 इस जीवन के पथ में तेरे, पड़ी भयानक रेख॥
 भाग्य हर जगह अटकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥११॥

स्वार्थ-पूर्ण मय इस जंगल में, है सरिता भरपूर।
 इसने तेरे पथ को अबतक, किया बहुत ही दूर॥
 इधर क्यों व्यर्थ दुलकता है ? अरे क्यों इधर भटकता है॥१२॥
 पहले तो तू इस अटवी में, आया था कर प्यार।
 अब फिर क्यों सिर पकड़-पकड़ कर, रोता है हरबार॥
 खड़ा क्यों व्यर्थ दुलकता है, अरे क्यों इधर भटकता है॥१३॥
 जीवन-शकट भयानक तेरा, उलझ गया अब आय।
 पागल बना मोह माया में, विषय-वृक्ष फल खाय॥
 हृदय में यही खटकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ?॥१४॥
 तेरी निधि का रक्षक भाई, यहाँ न दीखे कोय।
 लगे आग तब कूप खुदाये, कैसे रक्षा होय॥
 खड़ा क्यों यहाँ सिसकता है ? अरे क्यों इधर भटकता है॥१५॥
 यहाँ बैठ तू भूल गया है, अपने पथ की राह।
 आगे तेरा क्या होवेगा, जरा नहीं परवाह॥
 हृदय में यही कपटता है, अरे क्यों इधर भटकता है ?॥१६॥
 इस जंगल में जो कोई आया, वही रहा पछताय।
 किन्तु आज तू यहाँ बैठकर, मौजे रहा उड़ाय॥
 विषय-विष यहाँ महकता है, अरे क्यों इधर भटकता है॥१७॥
 जरा देख तू आँख खोलकर, मत मन माहीं फूल।
 तेरे पथ में बिछे हुए हैं, कंटक-वृक्ष बबूल॥
 अकड़ में व्यर्थ मटकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥१८॥
 इस अटवी में आ पथ भूला, बना प्रचुर अज्ञान।
 मोह लुटेरा एक क्षणक में, नाश करे विज्ञान॥
 अभी वह आन टपकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥१९॥

अरे गठरिया पथिक ! उठाले, यहाँ बैठ मत भूल।
 उस पथ का तू पथिक नहीं है, क्यों चलता प्रतिकूल ॥
 यहाँ क्यों खड़ा लटकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥२०॥
 यहाँ बैठ क्या सोच रहा है, समय नहीं अब देख।
 आयु दिवाकर पार कर रहा, अस्ताचल की रेख ॥
 अभी तो सूर्य चमकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥२१॥
 तेरा पथ कुछ दूर नहीं है, इसमें है इक भूल।
 दृष्टि बदल इस पथ से फिर हो, उस पथ के अनुकूल ॥
 इधर क्यों व्यर्थ लपकता है ? अरे क्यों इधर भटकता है ॥२२॥
 मोह वारुणी पीकर मूरख, सत्पथ दिया भुलाय।
 शिवनगरी का तू पथतज कर, इधर भटकता आय ॥
 हुई क्यों नहीं विरकता है ? अरे क्यों इधर भटकता है ॥२३॥
 इसप्रकार सन्देश-श्रवण कर, पथिक गया घबराय।
 मुक्ति मार्ग से च्युत होकर मैं, इस पथ पहुँचा आय ॥
 श्रवण अब पड़ी भनकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥२४॥
 हाथ जोड़कर पथिक कहे, गुरु किया महा-उपकार।
 इस नगरी के विषम मार्ग से, मुझको वेग निकार ॥
 मार्ग यह बहुत कसकता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥२५॥
 हो प्रसन्न गुरुदेव दयानिधि, दीना मार्ग बताय।
 शिवनगरी में पहुँच पथिक वह, बना चिदानन्दराय ॥
 चरण 'छोटे' नित नमता है, अरे क्यों इधर भटकता है ॥२६॥

अज्ञानी सिर्फ शास्त्र को पढ़ते हैं, परन्तु विवेकी शास्त्र के माध्यम से अपने को पढ़ते हैं।

अन्याय के विषय और अभक्ष्य-भक्षण से धर्मध्यान में मन नहीं लगता।

ज्ञान पच्चीसी

सुर नर तिरियग योनि में, नरक निगोद भ्रमंत ।
 महामोह की नींद सों, सोये काल अनन्त ॥१॥
 जैसे ज्वर के जोर सों, भोजन की रुचि जाय ।
 तैसे कुकरम के उदय, धर्म वचन न सुहाय ॥२॥
 लगे भूख ज्वर के गये, रुचिसों लेय अहार ।
 अशुभ गये शुभ के जगे, जानै धर्म विचार ॥३॥
 जैसे पवन झकोरतैं, जल में उठै तरंग ।
 त्यों मनसा चंचल भई, परिग्रह के परसंग ॥४॥
 जहाँ पवन नहीं संचरै, तहाँ न जल-कल्लोल ।
 त्यों सब परिग्रह त्यागतैं, मनसा होय अडोल ॥५॥
 ज्यों काहू विषधर डसै, रुचिसों नीम चबाय ।
 त्यों तुम ममता सों मढ़े, मगन विषयसुख पाय ॥६॥
 नीम रसन परसै नहीं, निर्विष तन जब होय ।
 मोह घटै ममता मिटै, विषय न बांछै कोय ॥७॥
 ज्यों सछिद्र नौका चढ़े, बूडहि अंध अदेख ।
 त्यों तुम भवजल में परे, बिन विवेक धर भेख ॥८॥
 जहाँ अखण्डित गुण लगे, खेवट शुद्ध विचार ।
 आतम रुचि नौका चढ़े, पावहु भवजल पार ॥९॥
 ज्यों अंकुश बिन मानैं नहीं, महामत्त गजराज ।
 त्यों मन तृष्णा में फिरे, गिनै न काज अकाज ॥१०॥
 ज्यों नर दाव उपाय कै, गहि आनै गज साधि ।
 त्यों या मन-वशकरन को, निर्मलध्यान समाधि ॥११॥

तिमिर रोग सों नैन ज्यों, लखै और को और।
 त्यों तुम संशय में परे, मिथ्यामति की दौर॥१२॥
 ज्यों औषधि अंजन किये, तिमिर-रोग मिट जाय।
 त्यों सतगुरु उपदेश तैं, संशय वेग विलाय॥१३॥
 जैसे सब यादव जरे, द्वारावति की आगि।
 त्यों माया में तुम परे, कहाँ जाहुगे भागि॥१४॥
 दीपायन सों ते बचे, जे तपसी निरग्रंथ।
 तजि माया समता गहो, यहै मुक्ति को पंथ॥१५॥
 ज्यों कुधातु के फेंटसों, घट-बढ़ कंचन कांति।
 पाप-पुण्य कर त्यों भये, मूढातम बहुभांति॥१६॥
 कंचन निज गुण नहिं तजै, हीन बानके होत।
 घटघट अंतर आतमा, सहज स्वभाव उदोत॥१७॥
 पन्नापीट पकाइये, शुद्ध कनक ज्यों होय।
 त्यों प्रगटै परमातमा, पुण्य-पापमल खोय॥१८॥
 पर्व राहु के ग्रहणसों, सूरसोम छविछीन।
 संगति पाय कुसाधु की, सज्जन होय मलीन॥१९॥
 निंबादिक चंदन करैं, मलयाचल की बास।
 दुर्जन तैं सज्जन भये, रहत साधु के पास॥२०॥
 जैसे ताल सदा भरै, जल आवे चहुँ ओर।
 तैसे आस्रवद्वार सों, कर्मबंध को जोर॥२१॥
 ज्यों जल आवत मूँदिये, सूखै सरवर पानि।
 तैसे संवर के किये, कर्मनिर्जरा जानि॥२२॥
 ज्यों बूटी संयोगतैं, पारा मूर्छित होय।
 त्यों पुद्गलसों तुम मिले, आतम शक्ति समोय॥२३॥

मेलि खटाई माजिये, पारा परगट रूप।
 शुक्लध्यान अभ्यासतैं, दर्शन-ज्ञान अनूप ॥२४॥
 कहि उपदेश 'बनारसी' चेतन अब कछु चेत।
 आप बुझावत आपको, उदय करन के हेत ॥२५॥

निर्ग्रन्थ भाव स्तवन

पर से अति निरपेक्ष है, प्रभुता अपरम्पार।
 अहो अकिंचननाथ को, वंदन अगणित बार ॥

(रोला)

तजा अनादि मोह सजा निजपद अविकारी,
 समयसारमय हुए सहज चैतन्य विहारी।
 परम इष्ट ज्ञायक स्वभाव में तृप्त हुए थे,
 वीतराग-विज्ञान रूप परिणमित हुए थे ॥१॥

कुछ अनिष्ट नहीं दिखा कल्पना मिथ्या छूटी,
 क्रोध भाव की संतति भी फिर सहजहि टूटी।
 हीनाधिक नहीं दिखें सभी भगवान दिखावें,
 अरे मान के भाव सहज ही नहीं उपजावें ॥२॥

पूर्ण सिद्ध सम आत्म जब दृष्टि में आया,
 गुप्त पापमय माया का तब भाव नशाया।
 छल प्रपंच सब भगे सरलता हुई संगिनी,
 मुक्ति-मार्ग में यही परिणति स्व-पर नंदनी ॥३॥

अक्षय आत्मविभव पाया तब लोभ नशाया,
 अनंत चतुष्टय सहजपने प्रभुवर प्रगटाया।
 परम पवित्र हुए निर्दोष निरामय स्वामी,
 अहो पतित-पावन कहलाते त्रिभुवन नामी ॥४॥

सहजसुखी हो प्रभो हास्य का काम नहीं है,
निज में ही संतुष्ट न रति का नाम कहीं है।
निजानन्द में नहीं अरति या खेद सु आवे,
होवे नहीं वियोग शोक फिर क्यों उपजावे ॥५॥

लौकिक जन ही अरे हास्य में समय गँवावें,
रत होवें सुख मान अरति कर फिर दुख पावें।
अहो निशंकित आप स्वयं में निर्भय रहते,
करें आपका जाप सर्व भय उनके भगते ॥६॥

निर्मल आत्मस्वभाव ज्ञान भी निर्मल रहता,
लोकालोक विलोक जुगुप्सा कहीं न लहता।
फैली धर्म सुवास वासना दूर भगावें,
स्त्री पुरुष नपुंसक वेद नहीं उपजावें ॥७॥

परम ब्रह्ममय मंगलचर्या प्रभो आपकी,
नहीं वेदना होवे किंचित् त्रिविध ताप की।
भान हुआ जब निज स्वभाव का मूर्छा टूटी,
बाह्य परिग्रह की वृत्ति भी सहजहि छूटी ॥८॥

पर केवल पर दिखे ग्रहण का भाव न आया,
निस्पृह निज में तृप्त अलौकिक है प्रभु माया।
चेतन मिश्र अचेतन परिग्रह सब ठुकराया,
हुए अकिंचन आप पंथ निर्ग्रन्थ सुभाया ॥९॥

शुद्ध जीवास्तिकाय अलौकिक महल आपका,
सहज ज्ञान साम्राज्य प्रगट है विभो आपका।
नित्य शुद्ध सम्पदा खान है अन्तर माँहीं,
पर से कुछ भी कभी प्रयोजन दीखे नहीं ॥१०॥

स्वानुभूति रमणी है नित ही तृप्ति प्रदायी,
ध्रुवस्वभाव ही सिंहासन है आनन्ददायी।

निरावरण निर्लेप अनाहारी हो स्वामी,
 अनुभव-अमृत भोजी नित्य निराकुल नामी ॥११॥
 अहो आप सम आप कहाँ तक महिमा गाऊँ,
 यही भावना सहज अकिंचन पद प्रगटाऊँ।
 चरणों में है भक्ति भाव से नमन जिनेश्वर,
 निज प्रभुता में मग्न रहूँ तुम सम परमेश्वर ॥१२॥

(दोहा)

जग से आप उदास हो, जगत आपका दास।
 यही भावना है प्रभो ! रहूँ आपके पास ॥

निर्ग्रन्थ भावना

निर्ग्रन्थता की भावना अब हो सफल मेरी।
 बीते अहो आराधना में हर घड़ी मेरी ॥टेक.....॥
 करके विराधन तत्त्व का, बहु दुःख उठाया।
 आराधना का यह समय, अतिपुण्य से पाया ॥
 मिथ्या प्रपंचों में उलझ अब, क्यों करूँ देरी ? निर्ग्रन्थता...॥१॥
 जब से लिया चैतन्य के, आनन्द का आस्वाद।
 रमणीक भोग भी लगे, मुझको सभी निःस्वाद ॥
 ध्रुवधाम की ही ओर दौड़े, परिणति मेरी ॥ निर्ग्रन्थता...॥२॥
 पर में नहीं कर्तव्य मुझको, भासता कुछ भी।
 अधिकार भी दीखे नहीं, जग में अरे कुछ भी ॥
 निज अंतरंग में ही दिखे, प्रभुता मुझे मेरी ॥ निर्ग्रन्थता...॥३॥
 क्षण-क्षण कषायों के प्रसंग, ही बनें जहाँ।
 मोही जनों के संग में, सुख शान्ति हो कहाँ ॥
 जग-संगति से तो बढ़े, दुखमय भ्रमण फेरी ॥ निर्ग्रन्थता...॥४॥

अब तो रहूँ निर्जन वनों में, गुरुजनों के संग।
 शुद्धात्मा के ध्यानमय हो, परिणति असंग॥
 निजभाव में ही लीन हो, मेटूँ जगत-फेरी ॥ निर्ग्रन्थता...॥५॥
 कोई अपेक्षा हो नहीं, निर्द्वन्द्व हो जीवन।
 संतुष्ट निज में ही रहूँ, नित आप सम भगवन्॥
 हो आप सम निर्मुक्त, मंगलमय दशा मेरी ॥ निर्ग्रन्थता...॥६॥
 अब तो सहा जाता नहीं, बोझा परिग्रह का।
 विग्रह का मूल लगता है, विकल्प विग्रह का॥
 स्वाधीन स्वाभाविक सहज हो, परिणति मेरी ॥ निर्ग्रन्थता...॥७॥

बारह भावना

जेती जगत में वस्तु तेती अथिर परिणमती सदा।
 परिणमन राखन नाहिं समरथ इन्द्र चक्री मुनि कदा॥
 सुत नारि यौवन और तन धन जानि दामिनि दमक सा।
 ममता न कीजे धारि समता मानि जल में नमक सा॥१॥
 चेतन-अचेतन सब परिग्रह हुआ अपनी थिति लहै।
 सो रहै आप करार माफिक अधिक राखे ना रहै॥
 अब शरण काकी लेयगा जब इन्द्र नाहीं रहत हैं।
 शरण तो इक धर्म आतम याहि मुनिजन गहत हैं॥२॥
 सुर नर नरक पशु सकल हेरे, कर्म चरे बन रहे।
 सुख शासता, नहिं भासता, सब विपत्ति में अति सन रहे॥
 दुःख मानसी तो देवगति में, नारकी दुःख ही भरै।
 तिर्यच मनुज वियोग रोगी शोक संकट में जरै॥३॥
 क्यों भूलता, शठ फूलता है देख परिकर थोक को।
 लाया कहाँ ले जायगा क्या फौज भूषण रोक को॥

जनमत मरत तुझ एकले को काल केता हो गया।
 संग और नाहीं लगे तेरे सीख मेरी सुन भया॥४॥
 इन्द्रीन तैं जाना न जावै तू चिदानन्द अलक्ष है।
 स्वसंवेदन करत अनुभव होत तब प्रत्यक्ष है॥
 तन अन्य जड़ जानो सरूपी तू अरूपी सत्य है।
 कर भेदज्ञान सो ध्यान धर निज और बात असत्य है॥५॥
 क्या देख राचा फिरै नाचा रूप सुन्दर तन लहा।
 मल मूत्र भाण्डा भरा गाढ़ा तू न जानै भ्रम गहा॥
 क्यों सूंघ नाहीं लेत आतुर क्यों न चातुरता धरै।
 तुहि काल गटकै नाहिं अटकै छोड़ तुझको गिर परै॥६॥
 कोई खरा कोई बुरा नहिं, वस्तु विविध स्वभाव है।
 तू वृथा विकल्प ठान उर में करत राग उपाव है॥
 यूँ भाव आस्रव बनत तू ही द्रव्य आस्रव सुन कथा।
 तुझ हेतु से पुद्गल करम बन निमित्त हो देते व्यथा॥७॥
 तन भोग जगत सरूप लख डर भविक गुरु शरणा लिया।
 सुन धर्म धारा भर्म गारा हर्षि रुचि सन्मुख भया॥
 इन्द्री अनिन्द्री दाबि लीनी त्रस रु थावर बध तजा।
 तब कर्म आस्रव द्वार रोके ध्यान निज में जा सजा॥८॥
 तज शल्य तीनों बरत लीनो बाह्याभ्यंतर तप तपा।
 उपसर्ग सुर-नर-जड़-पशु-कृत सहा निज आतम जपा॥
 तब कर्म रस बिन होन लागे, द्रव्य-भावन निर्जरा।
 सब कर्म हरकै मोक्ष वरकै रहत चेतन ऊजरा॥९॥
 विच लोकनन्ता लोक माँहीं लोक में सब द्रव भरा।
 सब भिन्न-भिन्न अनादि रचना निमित्त कारण की धरा॥
 जिनदेव भाषा तिन प्रकाशा भर्म नाशा सुन गिरा।
 सुर मनुष तिर्यक् नारकी हुई ऊर्ध्व मध्य अधो धरा॥१०॥

अनन्तकाल निगोद अटका निकस थावर तन धरा।
 भू वारि तेज बयार ह्वै कै बेइन्द्रिय त्रस अवतरा ॥
 फिर हो तिइन्द्री वा चौइन्द्री पंचेन्द्री मन बिन बना।
 मनयुत मनुष गति हो न दुर्लभ ज्ञान अति दुर्लभ घना ॥११॥
 जिय न्हान धोना तीर्थ जाना धर्म नाहीं जप जपा।
 तन नग्न रहना धर्म नाहीं धर्म नाहीं तप तपा ॥
 वर धर्म निज आतमस्वभावी ताहि बिन सब निष्फला।
 'बुधजन' धरम निजधार लीना तिनहिं कीना सब भला ॥१२॥

(दोहा)

अथिराशरण संसार है, एकत्व अन्यत्वहि जान।
 अशुचि आस्रव संवरा, निर्जर लोक बखान ॥१३॥
 बोधरु दुर्लभ धर्म ये, बारह भावन जान।
 इनको भावै जो सदा, क्यों न लहै निर्वान ॥१४॥

षोडश कारण विंशतिका

भावना सहज होय स्वामी, भावना सहज होय स्वामी।
 स्वयं स्वयं में मग्न रहूँ, तुम-सम त्रिभुवन नामी ॥
 नहीं स्वप्न में भी अपना, परमाणुमात्र भासे,
 सदा सहज अनुभूतिरूप, आतम ही प्रतिभासे।
 एक शुद्ध ज्ञायक स्वरूप परमानन्दमय आतम,
 स्वयंसिद्ध शाश्वत परमातम जाना शुद्धातम ॥१॥
 निरतिचार निर्मल सम्यग्दर्शन वर्ते सुखमय,
 निजस्वभाव में सहज निशंकित निर्वाछिक निर्भय।
 ज्ञेयमात्र ही रहें ज्ञेय, नहीं ग्लानि उपजावे,
 तत्त्वदृष्टि हो उपगूहन जीवन में बर्तावे ॥२॥
 चित्त-चंचलता मिटे स्वयं में ही थिरता पाऊँ,
 वात्सल्य से आतम ही उत्कृष्टपने भाऊँ।

भेदज्ञान हो मद नहीं उपजे महाक्लेश कारी,
दैन्य और अभिमान रहित हो जीवन हितकारी ॥३॥

तीन मूढ़ता षट् अनायतन नहिं आयें मन में,
प्रभु निर्मूढ़ प्रवृत्ति होवे, चिदानन्द घन में।
नहीं वृत्ति हो लोकनिंद्य या धर्मनिंद्य प्रभुवर,
धर्मप्रभावक मंगलदायक हो वृत्ति जिनवर ॥४॥

विनयवंत भगवंत कहावें, नहीं पर माँहिं झुकें,
वे ही हैं आदर्श जगत में सब दुख द्वन्द्व मिटें।
अविनय नहीं हो पाय किसी की, विनय योग्य होवे,
आत्मविनतता रूप विनय निश्चय सब दुख खोवे ॥५॥

दृष्टा-ज्ञाता रहूँ शील अंतर में प्रगटावे,
भोगूँ निजानन्दरस अविरल नहिं विकल्प आवे।
अपनी मर्यादा में रहकर ध्रुव प्रभुता पाऊँ,
ब्रह्मचर्य की होय पूर्णता निजपद प्रगटाऊँ ॥६॥

भेदज्ञान की रहे भावना तब तक हे स्वामी,
ज्ञान-ज्ञान में होय प्रतिष्ठित शाश्वत सुखदानी।
हो अविच्छिन्न ज्ञानानुभूति दुर्वार मोह नाशे,
शुद्ध चेतना का प्रकाश स्वाभाविक परकाशे ॥७॥

रहा नहीं उत्साह शेष किंचित् पर-भावन में,
हौंस जगी है एक मात्र निज शिवपद साधन में।
सब संसार असार दुःखमय दुःखों का कारण,
धन्य घड़ी आतम आराधूँ, कर मुनिपद धारण ॥८॥

अपनी शक्ति अपने में ही सहज प्रत्यक्ष दिखी,
वैभाविक परिणति अति दुःखमय सहजपने छूटी।

जीवन का क्षण-क्षण सार्थक हो धर्माराधन में,
 सर्व समर्पण हो जावे जिनधर्म प्रभावन में ॥१॥
 समझ न पाया व्यर्थहि चिर से पर में भरमाया,
 धन्य हुआ अपने में ही विश्राम सहज पाया।
 चाह नहीं कुछ शेष नाथ, निज में ही रम जाऊँ,
 कर्म जलाऊँ तप-अग्नि में मुक्त दशा पाऊँ ॥१०॥
 सहयोगी होऊँ समाधि में साधु साधकों की,
 रही नहीं परवाह प्रभो अब मुझे बाधकों की।
 अखण्ड ज्ञानमय सहज भावना रूप समाधि को,
 आनन्दपूर्वक धारण करके तजूँ उपाधि को ॥११॥
 ज्ञानी गुरुओं की सेवा में ही तत्पर निशि-दिन,
 उन-सम ही वैराग्य बढ़ाऊँ मैं अपना क्षण-क्षण।
 शुद्धात्म की सेवा करते खेद नहीं पाऊँ,
 हर्ष सहित धारूँ रत्नत्रय भव से तिर जाऊँ ॥१२॥
 धर्म पिता अरहंत जिनेश्वर साँची भक्ति करूँ,
 झूठे विषय-कषाय त्याग कर क्षण-क्षण ध्यान धरूँ।
 स्वानूभूति ही निश्चय भक्ति द्वैत विकल्प नहीं,
 संकट-त्राता शिवसुख-दाता जाना सार यहीं ॥१३॥
 अहो संघनायक आचारज विज्ञानी-ध्यानी,
 स्वयं आचरण करें-करायें सबको शिवदानी।
 उनकी चरण शरण से हो निर्दोष चरण सुखमय,
 बढ़ती जावे वीतरागता पाऊँ पद अक्षय ॥१४॥
 उपाध्याय गुरु पढ़ें-पढ़ावें संघ में जिनवाणी,
 अनेकान्तमय तत्त्व-प्रकाशें मोह-तिमिर हानी।

तज एकान्त-पक्ष दुःखमय पक्षातिक्रान्त पावें,
 फैले धर्म अहिंसा जग में आनन्द विलसावें ॥१५॥
 मंगलदायक श्री जिन-प्रवचन नित जग में गूँजें,
 तत्त्वभावना के प्रसाद से सर्व पाप धूजें ।
 समयसार ही जिन-प्रवचन का सार सहज पाया,
 ज्ञायक की ज्ञायकता लख परमानन्द विलसाया ॥१६॥
 यथायोग्य हों षट्-आवश्यक पापों का हारक,
 किन्तु अवश का कर्म ज्ञानमय निश्चय आवश्यक ।
 निर्विकल्प आनन्दरूप मैं उपादेय जाना,
 रागादिक से भिन्न अहो मेरा चेतन वाना ॥१७॥
 नित प्रभावना योग्य आत्मा भाऊँ अन्तर में,
 ज्ञान, दान, व्रत, संयम, पूजा से हो बाहर में ।
 जैनधर्म की नित प्रभावना दिन दूनी स्वामी,
 लहें भव्य सन्मार्ग अहो मंगलमय अभिरामी ॥१८॥
 शुद्धात्म ही तीर्थ है शाश्वत सब जग पहिचानें,
 आत्मज्ञान प्रगटाकर सब ही मोह-तिमिर हानें ।
 सम्यग्चारित्र धारण करके अक्षय सुख पावें,
 कर्म नशावें शिवपद पावें नहीं भव भरमावें ॥१९॥
 ये ही भावना सोलह कारण ज्ञानी को होवें,
 वे बिन चाहे तीर्थकर हो जग के दुःख खोवें ।
 धर्मतीर्थ प्रगटावें जिसमें भवि स्नान करें,
 आप तरें औरन को तारें शिव साम्राज्य लहें ॥२०॥
 धन्य हुआ जिनशासन पाया आत्मरुचि लागी,
 परभावों से भिन्न स्वाभावकि निज महिमा जागी ।
 स्वर्णिम अवसर मिला व्यर्थ नहीं पर में भरमाऊँ,
 तोड़ सकल जगद्वन्द्व-फंद निज शुद्धात्म ध्याऊँ ॥२१॥

बाईस परीषह

(चौपाई)

विषयारम्भ परिग्रह त्यागी, ज्ञान-ध्यान में परिणति पागी।
वे मुनिवर सबको सुखदाई, परिषहजय की करूँ बड़ाई ॥

१. क्षुधा परीषह

भूख लगे आहार न पाय, अनाहारी चिद्रूप लखाय।
ज्ञानामृत भोजी मुनिराय, सहें परीषह शिवसुखदाय ॥

२. तृषा परीषह

तृषा सतावे कोपे पित्त, नहीं दीनता लावें चित्त।
भेदज्ञान करते मुनिराय, समता रस से तृप्त रहाय ॥

३. शीत परीषह

अस्पर्शी ज्ञायक भगवान, ध्यावें साधु परम सुखदान।
शीत परीषह से नहीं डरें, निरावरण निर्भय नित रहें ॥

४. उष्ण परीषह

रहते आत्म गुफा के माँहिं, मोह ताप जिनके उर नाहिं।
सहज शान्त समता के धनी, उष्ण परीषह जीतें मुनी ॥

५. डंसमश्क परीषह

डंसमश्क जब तन में लगें, ज्ञानरूप में मुनिवर पगें।
वहे ज्ञानधारा उर माँहिं, परीषह में उपयोग सु नाहिं ॥

६. नग्न परीषह

निर्विकार शोभे परिणाम, यथाजात तनरूप ललाम।
ध्यावें अपने को अशरीर, नग्न परीषह जीतें वीर ॥

७. अरति परीषह

पापोदय का कार्य विचार, वर्ते सहजहि जाननहार।
अरति तजें संयम दृढ़ रहें, ते मुनि कर्म कालिमा दहें ॥

८. स्त्री परीषह

स्वानुभूति रमणी में तृप्त, करे न नारी चित संतप्त ।
ब्रह्मचर्य से चिगें न लेश, परमधीर मुनिवर जगतेश ॥

९. चर्या परीषह

अनियत वासी करै विहार, ईर्या समिति सहित अविकार ।
चर्या परीषह सों नहिं डरें, मुक्ति मार्ग जग में विस्तरें ॥

१०. आसन परीषह

अंतर समता से नहिं चिगें, बाहर आसन से नहिं डिगें ।
धनि मर्यादा पालन-हार, धर्मतीर्थ विस्तारन-हार ॥

११. शयन परीषह

भूमि काष्ठ पाषाण पै सोवें, सावधान नहिं गाफिल होवें ।
निद्रा अल्प न करवट फेरें, अन्तर्मुख हो निजपद हरे ॥

१२. आक्रोश परीषह

सुन दुर्वचन क्षमा उर लावें, ज्ञानी मुनि आक्रोश न आवें ।
धन्य-धन्य सबके उपकारी, वन्दनीय चैतन्य-विहारी ॥

१३. बध-बंधन परीषह

पापोदय में कोई मारे, बांधे अग्नि में परजारे ।
तहाँ तपोधन क्षोभ न करते, ध्यान विपाकविचय वे करते ॥

१४. याचना परीषह

निज में ही संतुष्ट यतीश्वर, पर की चाह न करते गुरुवर ।
नहीं औषधि भी वे याचें, परम विरक्त शान्त रस राचें ॥

१५. अलाभ परीषह

पर से लाभ न हानि मानें, सहज पूर्ण प्रभुता पहिचानें ।
पर-अलाभ प्रति सहज उपेक्षा, भावें वे द्वादश अनुप्रेक्षा ॥

१६. रोग परीषह

रोगादिक देहाश्रित जानें, कायर होकर दुःख नहीं मानें ।
तप से कर्म निर्जरित करते, क्लेश जगत के भी वे हरते ॥

१७. तृणस्पर्श परीषह

काँटे आदि पैर में लगते, उड़कर, आँखों में भी चुभते ।
फिर भी पर-सहाय नहीं चाहें, सहज ज्ञानसिन्धु अवगाहें ॥

१८. मल परीषह

आजीवन स्नान न करते, मलिन देह को भिन्न सु लखते ।
निर्मल आतम सदा निहारें, निर्मल सहज परिणति धारें ॥

१९. सत्कार-पुरस्कार परीषह

नहीं सत्कार चाहें मुनि-ज्ञानी, निजपर रीति भिन्न पहिचानी ।
तिरस्कार नहीं करें किसी का, प्रभुतारूप लखें सबही का ॥

२०. प्रज्ञा परीषह

ज्ञान विशिष्ट उग्र तप धारें, वादी देख हार स्वीकारें ।
महाविनय मुनि तदपि सु धारें, निजरत्नत्रय निधि विस्तारें ॥

२१. अज्ञान परीषह

जब क्षयोपशम मंद जु होवे, शक्तिज्ञान विशेष न होवे ।
भेदज्ञान से सुतप बढ़ावें, सहज पूर्ण शुद्धातम ध्यावें ॥

२२. अदर्शन परीषह

जो ऋद्धि अतिशय नहीं होवें, तो भी निजश्रद्धा नहीं खोवें ।
तत्त्व विचार सहज ही करते, शुद्ध स्वरूप चित्त में धरते ॥
ऐसे मुनिवर को शिर नावें, साक्षात् दर्शन कब पावें ।
यही भाव मन माँहीं आवें, धनि निर्ग्रन्थ दशा प्रगटावें ॥
विषयों की अब नहीं कामना, शाश्वत पद की करूँ साधना ।
निजानन्द में तृप्त रहूँ मैं, अक्षय प्रभुता प्रगट करूँ मैं ॥

दशधर्म द्वादशी

अहो दशलक्षण धर्म महान, अहो दशलक्षण धर्म महान ।
 धर्म नहीं दशरूप एक, वीतराग-भावमय जान ।
 सम्यग्दर्शन सहित परम आनन्दमय उत्तम मान ॥टेक॥
 तत्त्वदृष्टि से देखें जग में इष्ट-अनिष्ट न कोई,
 सुख-दुख-दाता-मित्र-शत्रु की व्यर्थ कल्पना खोई ।
 स्वयं-स्वयं में सहज प्रगट हो क्षमाभाव अम्लान ॥अहो...॥१॥

जो दीखे सब ही क्षणभंगुर किसका मान करे,
 पल में छोड़ हमें चल देता अपना जिसे कहे ।
 ज्ञानमात्र आतम-अनुभवमय प्रगटे मर्दव आन ॥अहो...॥२॥

कौन किसे ठगता इस जग में अरे स्वयं ठग जाय,
 पर्ययमूढ़ हुआ मूर्ख विषयों में काल गँवाय ।
 भेदज्ञान कर अंतरंग में हो आर्जव सुखखान ॥अहो...॥३॥

अशुचिरूप मिथ्यात्व कषायें तज, विवेक उर लावें,
 व्यसन, पाप, अन्याय, अभक्ष को त्याग पात्रता पावें ।
 परमशुद्ध आतम-अनुभव ही शौचधर्म पहिचान ॥अहो...॥४॥

गर्हित निंद्य और हिंसामय भाव वचन परिहार,
 परम सत्य ध्रुव ज्ञायक जानो अभूतार्थ व्यवहार ।
 ज्ञायकमय अनुभूति लीनता सत्यधर्म अभिराम ॥अहो...॥५॥

अहो अतीन्द्रिय शुद्धातम सुख ज्ञान अतीन्द्रिय जान,
 इन्द्रिय विषय-कषायें जीतो हो हिंसा की हानि ।
 आत्मलीनतामय संयम से ही पावें शिवधाम ॥अहो...॥६॥

अनशनादि बहिरंग प्रायश्चित आदि अंतरंग जान,
 निजस्वरूप में विश्रान्ति इच्छानिरोध तप मान ।
 तप अग्नि प्रज्वलित होय तब जले कर्म दुःखखान ॥अहो...॥७॥

सर्प काँचली मात्र तजे से ज्यों निर्विष नहीं होय।
 केवल बाह्य-त्याग से त्यों ही सुख शान्ति नहीं होय ॥
 मिथ्या राग-द्वेष को त्यागें शुद्धभावमय दान।
 अहो दशलक्षण धर्म महान, अहो दशलक्षण धर्म महान ॥८॥
 नहीं परमाणु मात्र भी अपना, सम्यक् श्रद्धा लावें,
 मूर्च्छा भाव परिग्रह दुःखमय तज शाश्वत सुख पावें।
 स्वयं-स्वयं में पूर्ण अनुभवन आकिंचन अम्लान ॥अहो...॥९॥
 ब्रह्मस्वरूप सहज आनन्दमय अकृत्रिम भगवान,
 दूर रहे जहाँ पुण्य-पापमय भाव कुशीली म्लान।
 ब्रह्मभावमय मंगलचर्या ब्रह्मचर्य सुखखान ॥अहो...॥१०॥
 धर्मी शुद्धातम को जाने बिना धर्म नहीं होय,
 अरे अटक कर विषय-कषार्यों में मत अवसर खोय।
 कोटि उपाय बनाय भव्य अब करले आतमज्ञान ॥अहो...॥११॥
 भावें नित वैराग्य भावना धरें भेद-विज्ञान,
 त्याग अडम्बर होय दिगम्बर ठानें निर्मल ध्यान।
 धर्ममयी श्रेणी चढ़ जावें बनें सिद्ध भगवान ॥अहो...॥१२॥

नारी स्वरूप

यदि द्रव्यदृष्टि से देखो तो नारी तो कोई द्रव्य नहीं।
 असमान जाति का नाम मात्र, उसमें तो सुख है नहीं कहीं ॥१॥
 जिस तन पर रीझ रहा मोही, वह तो पुद्गल का पिण्ड अरे।
 परिणति में आस्रव बंध चले, उसमें भीतर चैतन्य रहे ॥२॥
 वह तो तेरे सम ही भाई, किंचित् विकार अस्तित्व नहीं।
 उसको निरखे भागे विकार, समता से होवे मुक्ति-मही ॥३॥
 पर्यायमूढ़ मिथ्यात्वी को, निज भोग योग्य वह है दिखती।
 ज्यों रोग पीलिया होने पर, शुभ श्वेत वस्तु पीली दिखती ॥४॥

पति को तो पत्नी रूप दिखे, भाई को भगिनी दिखती है।
 सुत को माता, पुत्री पितु को, ज्यों दृष्टि है त्यों सृष्टि है ॥५॥
 केमरा वस्त्र अरु चर्म ग्रहे, अस्थि एकस-रे का विषय बने।
 त्यों अज्ञानी उपरोक्त लखे, पर ज्ञानी को चैतन्य दिखे ॥६॥
 व्यवहार चतुर आगम प्रवीण, भी उसको लख चिंतन करता।
 चैतन्य विराधन कर माया से, आत्मा स्त्री तन धरता ॥७॥
 यदि इसके हाव-भाव लखकर, मैं अपना धर्म विसारूँगा।
 तो पाप बंध होगा भारी, नरभव की बाजी हारूँगा ॥८॥
 यह भव तो भव के नाश हेतु, चिन्तामणि सम मैंने पाया।
 नारी की माया से हटकर, पाऊँगा रत्नत्रय माया ॥९॥
 निज आत्मतत्त्व है निर्विकार, उसका अवलम्बन मुझे उचित।
 इससे विकार करना न योग्य, बस रहना ज्ञायक मुझे उचित ॥१०॥
 स्त्री पर्याय को पाकर भी, जो ज्ञानरूप चेतन देखे।
 तो सम्यक्त्वी होकर निश्चय, यह स्त्रीलिंग तत्क्षण छेदे ॥११॥
 ऐसा विचार कर यदि उर से, किंचित् करुणा का स्रोत बहे।
 तो जम्बूस्वामी सम विरक्त उस उर में भी वैराग्य भरे ॥१२॥
 अरु ध्यान दशा में निर्विकल्प स्वाभाविक परिणति होती है।
 निजज्ञायक में जागृति रहे, परिणति बाहर से सोती है ॥१३॥
 हैं धन्य-धन्य वे जीव सदा, जो हैं ऐसी परिणति धारी।
 उनकी महिमा के वर्णन में, इन्द्रों की भी बुद्धि हारी ॥१४॥
 मैं बार-बार उनके चरणों में, सादर शीश नवाता हूँ।
 उन सम ही होऊँ निर्विकार, बस यही भावना भाता हूँ ॥१५॥

(दोहा)

परमब्रह्म लखता रहूँ, एक अचल निज-भाव।
 पूर्ण अखण्डित शील हो, मेढूँ सकल-विभाव ॥

वैराग्य द्वादशी

ध्याऊँ परम आनन्दमय, चैतन्य प्रभु अम्लान।
 एक ही है शरण जग में हुआ अब श्रद्धान॥
 नित्य अविकारी प्रभु पक्षातिक्रान्त निहार।
 कह सकूँ नहीं हुआ मोहि आनन्द अपरम्पार॥टेक॥
 देवदर्शन का अलौकिक फल मिला सुखकार।
 ज्ञान में प्रत्यक्ष जनावे सहज जाननहार॥
 उछलती हैं शक्तियाँ चैतन्य माँहिं अपार॥ कह सकूँ नहीं....॥१॥
 भ्रान्तिवश भ्रमता रहा परमाँहिं सुख विचार।
 जाना-देखा नहीं शुद्धात्मा, आनन्द का भण्डार॥
 धनि मिली प्रभु देशना, पाया समय का सार॥कह सकूँ नहीं....॥२॥
 चाह नहीं चिंता नहीं, परिपूर्ण तत्त्व दिखाय।
 अतीन्द्रिय स्वाधीन सुखसागर सहज लहराय॥
 अविरल निमग्न रहूँ अहो, दीखे नहीं संसार॥ कह सकूँ नहीं....॥३॥
 आत्मीक वैभव अलौकिक दिखे अखय अनन्त।
 जयवन्त होवे स्वानुभूति सत्य मुक्तिपन्थ॥
 स्वानुभव में ही दिखे शिवरूप मंगलकार॥ कह सकूँ नहीं....॥४॥
 ज्ञानमय निज स्वाद पाया और कुछ न सुहाय।
 संकल्प और विकल्प मिथ्या लगे सब दुखदाय॥
 प्रगट हो निर्ग्रन्थ पद आनन्दमय अविकार॥ कह सकूँ नहीं....॥५॥
 वन माँहिं नित निर्विघ्न, आराधूँ सहज परमात्म।
 स्वप्न में भी ध्यान में वर्ते अहो शुद्धात्म॥
 खिन्नता किंचित् न हो गर मिले नहीं आहार॥ कह सकूँ नहीं....॥६॥
 सहज समताभाव हो ज्ञाता रहूँ निरपेक्ष।
 देवांगनाएँ भी न चित्त में कर सकें विक्षेप॥
 निर्दोष ज्ञान-विरागमय चर्या हो निरतिचार॥ कह सकूँ नहीं....॥७॥

रंचमात्र न पापमय होवे प्रवृत्ति कदापि ।
 पदयोग्य हों शुभ भाव भी उनसे विरक्ति तथापि ॥
 शुद्धोपयोगी सहज परिणति होय मंगलकार ॥
 कह सकूँ नहीं हुआ मोहि आनन्द अपरम्पार ॥८॥
 सातिशय अप्रमत्त सप्तम अधःकरण निवार ।
 हो अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण सुखकार ॥
 सूक्ष्मलोभ भी नष्ट हो वीतरागता अविकार ॥ कह सकूँ नहीं....॥९॥
 नशि जाय त्रेसठ प्रकृति हो अरहंत पद अविकार ।
 तीर्थ का होवे प्रवर्तन, जगत में सुखकार ॥
 पुनि घाति शेष अघातिया हो लहूँ शिवपद सार ॥ कह सकूँ ...॥१०॥
 नहीं अपेक्षा अब किसी की सहज मिलि हैं योग ।
 सहज-जीवन सहज-साधन सहज-भाव मनोग ॥
 मुक्ति ही मानो मिली जब मिला जाननहार ॥ कह सकूँ॥११॥

कर्तव्याष्टक

आतम हित ही करने योग्य, वीतराग प्रभु भजने योग्य ।
 सिद्ध स्वरूप ही ध्याने योग्य, गुरु निर्ग्रन्थ ही वंदन योग्य ॥१॥
 साधर्मी ही संगति योग्य, ज्ञानी साधक सेवा योग्य ।
 जिनवाणी ही पढ़ने योग्य, सुनने योग्य समझने योग्य ॥२॥
 तत्त्व प्रयोजन निर्णय योग्य, भेद-ज्ञान ही चिन्तन योग्य ।
 सब व्यवहार हैं जानन योग्य, परमारथ प्रगटावन योग्य ॥३॥
 वस्तुस्वरूप विचारन योग्य, निज वैभव अवलोकन योग्य ।
 चित्स्वरूप ही अनुभव योग्य, निजानंद ही वेदन योग्य ॥४॥
 अध्यातम ही समझने योग्य, शुद्धातम ही रमने योग्य ।
 धर्म अहिंसा धारण योग्य, दुर्विकल्प सब तजने योग्य ॥५॥
 श्री जिनधर्म प्रभावन योग्य, ध्रुव आतम ही भावन योग्य ।
 सकल परीषह सहने योग्य, सर्व कर्म मल दहने योग्य ॥६॥

भव का भ्रमण मिटाने योग्य, क्षपक श्रेणी चढ़ जाने योग्य ।
 तजो अयोग्य करो अब योग्य, मुक्तिदशा प्रगटाने योग्य ॥७॥
 आया अवसर सबविधि योग्य, निमित्त अनेक मिले हैं योग्य ।
 हो पुरुषार्थ तुम्हारा योग्य, सिद्धि सहज ही होवे योग्य ॥८॥

प्रभावना

जिनशासन की प्रभावना निर्दोष हो स्वामी ।
 रे अन्तर्मन की भावना निर्दोष हो स्वामी ॥८॥
 श्रद्धान हो सम्यक् सहज अभिप्राय निर्मल हो,
 आराधनामय साधनामय भाव निश्छल हो ।
 जगख्याति पूजा लाभ की नहीं चाह हो स्वामी ॥ रे अन्तर्मन... ॥९॥
 नहीं करके पक्ष निश्चय का स्वच्छन्द हो जीवन,
 नहीं पक्षवश व्यवहार के हो ज्ञान-विराधन ।
 हो मैत्री ज्ञान-विराग की आनन्दमय स्वामी ॥ रे अन्तर्मन... ॥१०॥
 पक्षातिक्रान्त समयसार प्राप्त हो सबको,
 चैतन्यमय शुद्धात्मा अनुभूत हो सबको ।
 अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दमय परिणाम हो स्वामी ॥ रे अन्तर्मन... ॥११॥
 परद्रव्यों में नहीं कल्पना अच्छे बुरे की हो,
 पीवें अतीन्द्रिय ज्ञानरस जिनवर जितेन्द्रिय हो ।
 इन्द्रिय विषयों से हो विरक्ति स्वभाविक स्वामी ॥ रे अन्तर्मन... ॥१२॥
 समझें निमित्त अकिंचित्कर हो निरवलम्बी,
 निरपेक्ष हों निश्चित हों निर्द्वन्द्व स्वस्थ भी ।
 नित ही रहें निज में ही निज से तृप्त हे स्वामी ॥ रे अन्तर्मन... ॥१३॥
 नहीं पुण्य-पाप के उदय में हर्ष-खेद हो,
 अरि-मित्र निन्दा-स्तुति में कुछ न भेद हो ।
 हो मोह-क्षोभ-शून्य शुद्ध आचरण स्वामी ॥ रे अन्तर्मन... ॥१४॥

नहीं जन्म जयन्ती में ही हम हो जावें मगन,
 समझें स्वयं को स्वयं-सिद्ध अनादिनिधन।
 निर्लिप्त उदासीन ज्ञातारूप हों स्वामी ॥
 रे अन्तर्मन की भावना निर्दोष हो स्वामी ॥७॥
 मोही जनों की ममता से नित सावधान हों,
 धनि-धनि सिर ऊपर ज्ञानी गुरु विराजमान हों।
 उनके अनुशासन में रहकर स्वतंत्र हों स्वामी ॥ रे अन्तर्मन...॥८॥
 अबद्धस्पृष्ट अनन्य नियत और असंयुक्त,
 अविशेष देखें आत्मा होवें सहज ही मुक्त।
 परमार्थ ही हो स्वार्थ, हो निस्वार्थ हे स्वामी ॥ रे अन्तर्मन...॥९॥
 सब जीव सिद्ध सम दिखें नहिं राग-द्वेष हो,
 ज्ञेयों से भिन्न ज्ञायक की महिमा विशेष हो।
 हो उपादेय आत्मा को आत्मा स्वामी ॥ रे अन्तर्मन...॥१०॥
 जाने निज परमब्रह्म ब्रह्मरूप में रमे,
 निर्दोष ब्रह्मचर्य हो दुर्वासना भगे।
 आदर्श प्रेरणा स्वरूप हो चरण स्वामी ॥ रे अन्तर्मन...॥११॥
 होते जावें विज्ञानघन, रागादि क्षीण हों,
 नहीं दीन हों स्वाधीन पर से उदासीन हों।
 निकलंक हों निष्पाप हों निर्ग्रन्थ हों स्वामी ॥ रे अन्तर्मन...॥१२॥
 एकाकी निर्भय निज में ही संतुष्ट रहेंगे,
 शुद्धात्मा के ध्यान से सब कर्म भगेंगे।
 प्रगटे सहज अक्षय परम प्रभुता अहो स्वामी ॥ रे अन्तर्मन...॥१३॥
 रहकर भी मौन सहज मुक्ति मार्ग कहेंगे,
 धनि-धनि अनुभूत मार्ग के प्रणेता बनेंगे।
 होगी प्रभावना अहो परिपूर्ण हो स्वामी ॥ रे अन्तर्मन...॥१४॥

बारह भावना

ज्ञानमात्र शाश्वत प्रभो, समयसार अविकार ।
 जनम-मरण जामें नहीं, निर्भय तत्त्व विचार ॥१॥
 जग में कोई नहीं शरण, सोच तजो दुखकार ।
 चिन्मय ध्रुव निज शरण ले, जावे भव से पार ॥२॥
 कहूँ न सुख संसार में, आतम सुख की खान ।
 निज आतम में लीन हो, भोगो सुख अमलान ॥३॥
 उपजे विनशे परिणति, आतम है ध्रुव रूप ।
 विलसे प्रतिक्षण एक सम, यह एकत्व स्वरूप ॥४॥
 जहाँ न भेद विकल्प है, पर्यायें भी भिन्न ।
 कर्मादिक में मोहकर, तू क्यों होवे खिन्न ॥५॥
 अशुचि देह सों ममत तज, पावन आतम जान ।
 निज स्वभाव साधन करे, पहुँचे शिवपुर थान ॥६॥
 सतगुरु रहे जगाय, मूढ़ जीव तोहू न जगे ।
 करे नहीं पुरुषार्थ, दोष देय नित कर्म को ॥७॥
 ज्ञान सूर्य के जोर, ज्ञानी जन जागे सदा ।
 जिनका ओर न छोर, शक्ति अनन्तों उछलती ॥८॥
 निज चैतन्य प्रकाश में, कर्म दिखे अति दूर ।
 शुद्ध परिणति में रहे, बहता समता नीर ॥९॥
 अतीन्द्रिय की शरण ही, इन्द्रिय जय कहलाय ।
 व्रत समिति गुप्ति सभी, साम्यभाव पर्याय ॥१०॥
 आलोकित निज लोक हो, लोकालोक दिखाय ।
 तब लोकान्त सुथिर बने, चहुँगति भ्रमण मिटाय ॥११॥

धन-कन-कंचन राजसुख, पराधीन सब जान।
 सहज प्राप्त स्वाधीन नित, सुखमय आतमज्ञान ॥१२॥
 आत्मस्वभाव ही धर्म है, सम्यग्दर्शन मूल।
 बाहर में क्यों दूढ़ते, निजस्वभाव को भूल ॥

स्वाधीन-मार्ग

स्वाधीनता का मार्ग तो निर्ग्रन्थ मार्ग है।
 आराधना का मार्ग ही स्वाधीन मार्ग है ॥टेक॥
 स्वाधीनता पर से नहीं स्व से सदा आती।
 निज में ही तृप्त परिणति स्वाधीन हो जाती ॥
 संतुष्ट है निज में अहो स्वाधीन है वह ही।
 इच्छाओं के वशवर्ती भोगाधीन है वह ही ॥
 जो भोगों का है दास वह सब जग का दास है।
 जो भोगों से उदास प्रभुता उसके पास है ॥
 भोगों से सुख की कल्पना संसारमार्ग है ॥ स्वाधीनता...॥१॥
 प्रभु वीतरागी का अहो स्वाधीन नाम है।
 रागादि ही जिसके नहीं पर से क्या काम है ?
 मुनिराज हैं स्वाधीन बाह्य साधन के बिना।
 एकाकी जंगल में विचरते आकुलता बिना ॥
 देखो सुरक्षा का नहीं कुछ भी वहाँ साधन।
 फिर भी निर्भय रह कर करें शुद्धातम आराधन ॥
 अस्त्रों-शस्त्रों का संग्रह तो भय का ही मार्ग है ॥ स्वाधीनता...॥२॥
 धन के बिना निर्धन अरे अधीन सा दीखे।
 तृष्णा के वशवर्ती धनवान भी दुःखी दीखे ॥
 भोगों को पाने के लिए मूर्ख रहे रोता।
 पर भोगों को पाकर भी कौन तृप्त है होता ?

ज्यों-ज्यों भोगे त्यों-त्यों तृष्णा ही बढ़ती है भाई।
 अग्नि की ईंधन से तृप्ति किसने है कर पाई ?
 निवृत्ति का ही मार्ग भवि स्वाधीन मार्ग है॥
 स्वाधीनता का मार्ग तो निर्ग्रन्थ मार्ग है॥३॥
 गोरखधन्धे की इक कड़ी को हाथ लगावे।
 फिर सुलझाना मुश्किल उलझता चक्र ही जावे॥
 त्यों ही समस्यायें अनन्त जीवन है थोड़ा।
 सुलझाने की आकुलता में जीवन होवे पूरा॥
 संक्लेश से मर कर अरे दुर्गति ही पाता है।
 सारा विकल्प उसका देखो व्यर्थ जाता है॥
 मुक्ति का मार्ग तो अरे अन्तर का मार्ग है॥ स्वाधीनता...॥४॥
 जैसे वाँसों के वृक्षों से छाया नहीं मिलती।
 स्त्री-पुत्रादिक से सुख की त्यों कल्पना झूठी॥
 कितने खोजे देखो भौतिक विज्ञान ने साधन ?
 पर हो सके उनसे कभी क्या शान्ति का वेदन ?
 बाहर की दुनिया में नहीं भवि होड़ लगाओ।
 समझो चेतो आराधना के मार्ग में आओ॥
 जिनमार्ग ही कल्याण का सत्यार्थ मार्ग है॥ स्वाधीनता...॥५॥
 आत्मन् ! निराशा अन्त में बाहर से मिलेगी।
 पछताने पर भी यह घड़ी नहीं हाथ लगेगी॥
 पुण्योदय भी क्षणभंगुर है मत लखकर ललचाओ।
 पापोदय की प्रतिकूलताओं से न घबराओ॥
 दुनिया की बातों में आकर नहीं चित्त भ्रमाना।
 नित तत्त्वों के अभ्यास में ही मन को लगाना॥
 नहीं विवाद का अहो निर्णय का मार्ग है॥ स्वाधीनता...॥६॥

है धैर्य ही अवलम्बन और धर्म सहायक।
 संयोग तो कोई नहीं विश्वास के लायक॥
 खुद ही विचारो सत्-असत् का ज्ञान तुम करो।
 है सर्व समाधान कर्ता ज्ञान ही अहो॥
 भवरोग की औषधि अरे विवेक मात्र है।
 रे आत्मज्ञानी ही सहज मुक्ति का पात्र है॥
 जितेन्द्रियता का मार्ग ही मुक्तिका मार्ग है॥ स्वाधीनता...॥७॥
 पहले गये शिव जो उन्हें आदर्श बनाना।
 निश्चितता के नाम पर परिग्रह न जुटाना॥
 ध्रुवफण्ड नहीं ध्रुवदृष्टि ही आदेय तुम जानो।
 निर्वाँछकता सम्यक्त्वी साधक का सुगुण मानो॥
 जीवराज का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करना।
 इस मार्ग से ही एक दिन भवसिन्धु हो तरना॥
 रत्नत्रय मार्ग ही अहो परमार्थ मार्ग है॥ स्वाधीनता...॥८॥
 करके विराधन संयम का अति दुःख सहोगे।
 संयम का साधन करके ही आनन्द लहोगे॥
 आनन्द का अवसर मिला है चूक मत जाना।
 रे स्वप्न में भी भोगों का कुछ भाव नहीं लाना॥
 औदयिक भाव आ जावें तो प्रायश्चित्त करना।
 डरना नहीं पुरुषार्थ से आगे सदा बढ़ना॥
 निःशंकता से शोभित ध्रुव कल्याणमार्ग है॥ स्वाधीनता...॥९॥
 कोई सहारा है नहीं यों सोच मत लाना।
 चत्तारि शरणं पाठ पढ़ निज की शरण आना॥
 निजभावना भाते हुए वैराग्य बढ़ाओ।
 सर्वत्र सुन्दर एक की ही भावना भाओ॥

देखो अहो एकत्व ही है सत्य शिव सुन्दर।
 प्रभु पंच भी देखो अहो इक आत्म के अन्दर॥
 आत्मानुभव का मार्ग ही शिवपद का मार्ग है ॥ स्वाधीनता...॥१०॥

अपूर्व कार्य करूँगा

नरभव मिला है, मैं अपूर्व कार्य करूँगा।
 पाया जिनशासन, अब भव का अभाव करूँगा ॥
 है मेरा निश्चय, है सम्यक् निश्चय। नरभव..... ॥१॥

मिथ्यात्व वश अनादि काल से ही रुल रहा।
 गति-गति में खाते ठोकरें मैं अब तो थक गया ॥
 जिनदर्शन से निजदर्शन करके मोह तजूँगा। नरभव..... ॥२॥

भव से रहित भगवान अंतर मांहीं दिखाया।
 भगवान होने का सहज विश्वास जगाया ॥
 निज के आनंद से ही निज में तृप्त रहूँगा। नरभव..... ॥३॥

इन्द्रिय सुखों की कामना अब है नहीं मन में।
 उपसर्गों की परवाह नहीं जाकर बसूँ वन में ॥
 निर्द्वन्द्व हूँ स्वभाव से निर्द्वन्द्व रहूँगा। नरभव..... ॥४॥

देहादि से अति भिन्न हूँ न्यारा विभावों से।
 गुण भेद से भी भिन्न हूँ न्यारा पर्यायों से।
 स्वाधीन निर्भय एकाकी अतितृप्त रहूँगा। नरभव..... ॥५॥

चैतन्य की अद्भुत शोभा ही भाई है मुझे।
 अक्षय विभूति सिद्ध सम सुहाई है मुझे ॥
 झूठे प्रपंचों में फंस कर दुख अब न सहूँगा। नरभव..... ॥६॥

रे कर्म अपने ठाठ तूँ दिखाता है किसे।
 प्रतिकूलताओं का भी भय बताता है किसे ॥
 निरपेक्ष ज्ञाता रूप हूँ ज्ञाता ही रहूँगा।
 नरभव मिला है, मैं अपूर्व कार्य करूँगा ॥७॥

निज के लिये निज में भरा है सुख अतीन्द्रिय।
 भोगूँगा अनंत काल तक बनूँगा जितेन्द्रिय॥
 है द्वार मुक्ति का मिला अब मैं न रुलूँगा। नरभव.....॥८॥
 जिनको अनंतों बार भोग-भोग कर छोड़ा।
 हैं वे ही भोग, नहीं नवीन हैं, चित्त है मोड़ा॥
 अज्ञान वश उच्छिष्ट भोगी अब न बनूँगा। नरभव.....॥९॥
 दुख के पहाड़ बाह्य की प्रवृत्ति मार्ग में।
 आनन्द की हिलोरें हैं निवृत्ति मार्ग में॥
 उल्लास से निवृत्ति के मार्ग में बढ़ूँगा। नरभव.....॥१०॥
 इस मार्ग में कुछ पाप तो होते ही नहीं हैं।
 रे पूर्व बंध भी सहज खिरते ही सही हैं॥
 कैसे कहो फिर दुख की कल्पना भी करूँगा। नरभव.....॥११॥
 निंदा करें वे ही जिन्हें कुछ ज्ञान नहीं है।
 अनुमोदना करते जिन्हें निज ज्ञान सही है॥
 कुछ हर्ष या विषाद अब मन में ना धरूँगा। नरभव.....॥१२॥
 असहाय परिणमन है सर्व द्रव्यों का सदा।
 बाँछा सहाय की नहीं मन में भी हो कदा॥
 विश्वास निजाश्रय से ही शिवपद भी लहूँगा। नरभव.....॥१३॥
 स्वभाव से निर्मुक्त हूँ स्वीकार है हुआ।
 स्वभाव के सन्मुख सहज पुरुषार्थ है हुआ॥
 ध्याऊँ सहज शुद्धात्मा सन्तुष्ट रहूँगा। नरभव.....॥१४॥
 भवितव्य भली काललब्धि आई है अहो।
 निमित्त भी मिले मिलेंगे योग्य ही अहो॥
 हर हालत में आराधना में रत ही रहूँगा। नरभव.....॥१५॥

विघ्नों के भय से मूढ ही निज लक्ष्य नहीं भजते ।
 विघ्नों के आने पर भी धीर मार्ग नहीं तजते ॥
 निश्चित निराकुल हुआ निज साध्य लहूंगा । नरभव.....॥१६ ॥
 सब जीवों के प्रति मेरे सहज क्षमाभाव है ।
 करना क्षमा, मुझको, क्षमा आतम स्वभाव है ॥
 त्यागा है मोह, राग-आग में न जलूंगा । नरभव.....॥१७ ॥
 पाया है ऐसा मार्ग जिसके बाद मार्ग ना ।
 पाऊंगा ऐसा सुख जिसके बाद दुख ना ॥
 जिसका न हो अभाव वह प्रभुत्व लहूंगा । नरभव.....॥१८ ॥
 पाया स्वरूप झूठे स्वांग अब मैं न धरूंगा ।
 चैतन्य महल मिला अब भव में न भ्रमूंगा ॥
 दारिद्र फिर जिसमें न हो वह वैभव लहूंगा । नरभव.....॥१९ ॥
 संयोगों को मैंने वरण किया अनंत बार ।
 वियोग के दुख के जहाँ टूटे सदा पहाड़ ॥
 निश्चय किया अताएव ध्रुवस्वभाव वरूंगा नरभव.....॥२० ॥
 तज करके मोह देखो यह आनंदमय है मार्ग ।
 निशंक हो आओ सभी आनंदमय है मार्ग ॥
 आनंदमय जिनमार्ग का प्रभाव करूंगा । नरभव.....॥२१ ॥
 इस मार्ग से ही पाया है भगवंत ने भव अंत ।
 इस मार्ग में विचरें अभी भी ज्ञानी साधु संत ॥
 उनका ही अनुशरण कर निजानुभव करूंगा । नरभव.....॥२२ ॥
 चिंता नहीं विभावों की नसेंगे वे स्वयं ।
 निर्ग्रथ हो निज भाव में ही रमण हो स्वयं ॥
 होता हुआ शिव होगा, सहज ज्ञाता रहूंगा । नरभव....॥२३ ॥

शुद्धात्म-आराधना

आराधना की शुभ घड़ी यह भाग्य से पायी ।
 आराधना शुद्धात्मा की ही मुझे भायी ॥टेक॥
 करके विराधन तत्त्व का बहु क्लेश हैं पाये ।
 सौभाग्य से नरभव मिला जिननाथ ढिंग आये ॥
 वाणी सुनी जिनराज की कुछ होश हुआ है ।
 उपयोग निर्णय में लगा अवबोध हुआ है ॥
 जागा विवेक अंतरंग में जागृति आयी ॥ आराधना...॥१॥
 शुद्धात्मा अपना परम आदेय है भासा ।
 मंगलस्वरूप चित्स्वरूप सहज प्रतिभासा ॥
 संयोग देह कर्म आदि भिन्न लखाये ।
 मोहादि सब दुर्भाव दुःख के हेतु दिखाये ॥
 आह्लादमयी आत्मानुभूति आज है आयी ॥आराधना...॥२॥
 निर्भान्त हूँ, निःशंक हूँ, शुद्धात्मा प्रभु है ।
 स्वभाव से ही ज्ञान आनन्दमय सदा विभु है ॥
 सत्स्वरूप अहेतुक नहीं जन्में नहीं मरता ।
 सामर्थ्य से अपनी सदा ही परिणमन करता ॥
 समझा स्वरूप स्वावलम्बी वृत्ति जगायी ॥ आराधना...॥३॥
 स्वाधीन अखण्ड प्रतापवान है प्रभु सदा ।
 निर्बन्ध है पर से नहीं सम्बन्ध हो कदा ॥
 पर से नहीं आता कभी कुछ भ्रान्ति मिट गयी ।
 निज में ही निज की पूर्णता स्वयमेव दिख गयी ॥
 स्वाश्रय से पराश्रय की बुद्धि सहज नशायी ॥ आराधना...॥४॥
 रे अग्नि में से शीतता आती नहीं जैसे ।
 और अग्नि भी घृत से नहीं बुझती कभी जैसे ॥
 त्यों इन्द्रिय भोगों से नहीं होता सुखी कभी ।

अरु कार्य भी विकल्प से होता नहीं कभी ॥
 परभावों की असारता प्रत्यक्ष दिखायी। आराधना...॥५॥
 जीवन का ठिकाना नहीं, संयोग हैं अशरण।
 परमार्थ से देखें तो मात्र आत्मा शरण ॥
 आत्मा का विस्मरण ही है संसार का कारक।
 आत्मा का अनुभवन ही सर्वक्लेश निवारक ॥
 जिनदेव की यह देशना आनन्द प्रदायी ॥ आराधना...॥६॥
 चिन्ता चिता से भी अधिक है घात का कारण।
 चिन्ता से कभी होता नहीं कष्ट निवारण ॥
 चिन्ता को छोड़ तत्त्व का चिन्तन सहज करूँ।
 अनुकूल अरु प्रतिकूल में समता सदा धरूँ ॥
 निरपेक्ष भावना हृदय में आज है आयी ॥ आराधना...॥७॥
 होती न अनहोनी कभी होनी नहीं टलती।
 सुख शान्ति तो आराधना से ही सदा मिलती ॥
 शिवमार्ग के साधक कभी कुछ भार नहीं लेते।
 ज्ञाता स्वयं में तृप्त नित निर्भर ही रहते ॥
 विमुक्त होने की यह युक्ती आज सुहायी ॥ आराधना...॥८॥
 भवितव्य को स्वीकार कर निश्चित रहूँगा।
 तजकर पराई आश अब निरपेक्ष रहूँगा ॥
 संयोगों की चिन्ता में दुख के बीज नहीं बोऊँ।
 फँसकर विकल्पों में नहीं यह शुभ समय खोऊँ ॥
 वस्तु स्वरूप जानकर दृढ़ता सहज आयी ॥ आराधना...॥९॥
 लौकिक जनों की चर्चायें अब मैं न सुनूँगा।
 मोही जनों के आँसुओं पर ध्यान नहीं दूँगा ॥
 मिथ्या भविष्य की भी चिन्ता अब न करूँगा।
 मानापमान में भी मैं तो सहज रहूँगा ॥

अब भेदज्ञान की कला अन्तर में प्रगटाई ॥
 आराधना की शुभ घड़ी यह भाग्य से पायी ॥१०॥
 करके स्वांग हितैषी का नहीं मुझको बहकाओ ।
 देके प्रलोभन अथवा भय न मुझको फँसाओ ॥
 तजकर तुम मिथ्या मोह कुछ विवेक जगाओ ।
 होकर आनन्दित संयम की अनुमोदना लाओ ॥
 संयम की अमृतधारा तो सभी को सुखदायी ॥आराधना... ॥११॥
 सुनकर विरागमय वचन आनन्द छा गया ।
 दुर्मोह का वातावरण सब दूर हो गया ॥
 आसन्न भव्य भी सहज ही साथ चल दिए ।
 निर्ग्रन्थता के मार्ग का संकल्प शुभ किए ॥
 धनि-धनि कहें जयवंत हो जिनधर्म सुखदायी ॥आराधना.. ॥१२॥

बृहत् साधु स्तवन

(दोहा)

इस अशरण संसार में, शरण रूप व्यवहार ।
 नमहुँ दिगम्बर गुरु चरण, गुण गाऊँ सुखकार ॥१॥
 विषय कषायारम्भ बिन, ज्ञान-ध्यान-तप लीन ।
 निर्विकार मुद्रा सहज, करे मोहमल छीन ॥२॥
 निज निर्ग्रन्थ रूप का ध्यान, प्रचुर स्वसंवेदन सुखदान ।
 नमन बाह्य में भी अविकार, साधुदशा जग में सुखकार ॥३॥
 तीन कषाय चौकड़ी नाशी, भव तन भोग विरक्ति विकासी ।
 तृप्त रहें अपने में आप, चर्या सहज होय निष्पाप ॥४॥
 उपजें नहीं रागादि विकार, जीव विराधन नहीं दुःखकार ।
 वर्ते सहज ही यत्नाचार, पले अहिंसा व्रत सुखकार ॥५॥
 निज में मग्न मौन अविकार, मृषा कथन होवे न लगाए ।
 क्वचित् कदाचित् सत्योपदेश, नहीं आसक्ति वहाँ भी लेश ॥६॥

अपना वैभव लखा अपार, पर पदार्थ लख जगे न प्यार।
 सहज अचौर्य महाव्रत होय, वंदनीय है मुनिपद सोय ॥७॥
 ध्यावें सदा शुद्ध चिद्रूप, परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप।
 ब्रह्मचर्य वर्ते अविकार, लगे नहीं किंचित् अतिचार ॥८॥
 अपनी निधि अपने में धार, भये अकिंचन मुनि सुखकार।
 तिल तुष मात्र परिग्रह नाहिं, तुष्ट रहें निज आतम माँहिं ॥९॥
 नहीं आकुलता नहीं प्रमाद, नहीं अनुबन्ध रूप अवसाद।
 सहज गमन लागे नहीं दोष, ईर्या समिति पले निर्दोष ॥१०॥
 प्राणि मात्र प्रति मैत्री भाव, हित-मित-प्रिय वच हो सुखदाय।
 भाषा समिति सहज ही होय, तारण-तरण ऋषीश्वर सोय ॥११॥
 अनाहारी शुद्धातम ध्यावें, स्वयं स्वयं में तृप्त रहावें।
 दोष छियालिस लगे न कोय, धनि युक्ताहारी मुनि सोय ॥१२॥
 त्योगोपादानशून्य स्वभाव, भिन्न सभी भासैं परभाव।
 तहँ किंचित् ममत्व नहीं जान, हो सयत्न निक्षेप आदान ॥१३॥
 जानत सब जीवन की जात, होवे नाहीं उनका घात।
 प्रासुक भूमि माँहिं मल डारें, निर्मल आत्म स्वरूप संभारें ॥१४॥
 नाना इन्द्रिय विषय निहार, हर्ष-विषाद न जिन्हें लगाय।
 परम जितेन्द्रिय श्री मुनिराय, सहज नमन होवे सुखदाय ॥१५॥
 चेतनपद परस्यो अविकार, उपज्यो आनन्द अपरम्पार।
 जड़ स्पर्श में राग या द्वेष, होवे नहीं सहज लवलेश ॥१६॥
 स्वाद निजानन्द रस को पाय, बाह्य स्वाद फीके दिखलाय।
 नीरस तो नीरस ही रहे, सरस स्वाद भी नीरस भये ॥१७॥
 अहा अगंध स्वरूप अनूप, परमानन्दमय शुद्ध चिद्रूप।
 नहीं सुगन्ध लगे सुखरूप, भासे नहीं दुर्गन्ध दुःखरूप ॥१८॥

सुन्दरतम शुद्धात्म स्वरूप, शाश्वत शोभा लखी अनूप।
 बाह्यरूप नहीं मन को मोहें, अविकारी मुनि जग में सोहें ॥१९॥
 राग-रागिनी शब्द कुशब्द, सुनते भी मुनि हो नहीं क्षुब्ध।
 अंतर आत्मप्रसिद्धि जगाय, सहज उदास रहे मुनिराय ॥२०॥
 ध्यावें आत्मरूप अविकार, साम्यभाव वर्ते सुखकार।
 ज्ञायकपने स्वयं को जोय, भिन्न ज्ञेय भासे सब लोय ॥२१॥
 इष्ट-अनिष्ट विकल्प न आय, नहीं विषमता हो दुखदाय।
 सामायिक यह मंगलरूप, होय सहज मुनि को शिवरूप ॥२२॥
 दर्शायो आतम उत्कृष्ट, जग में पूज्य पंच पद इष्ट।
 हो स्तुति वंदन बहुमान, वर्ते सहज भेद विज्ञान ॥२३॥
 नहीं अतिक्रमे शुद्ध चिद्रूप, सहज होय प्रतिक्रमण अनूप।
 क्रिया ज्ञानमय नित अविकार, दुखदायक अतिचार विडार ॥२४॥
 निमित्त रूप आगम अभ्यास, आप आप जाने सुखरास।
 कायोत्सर्ग मुद्रा धरि नित्य, देखे आत्मस्वरूप पवित्र ॥२५॥
 नहीं स्नान नहीं शृंगार, नग्न देह शोभे अविकार।
 अन्तर बाहर सहज पवित्र, रहित वासना निर्मल चित्त ॥२६॥
 देहाश्रित निद्रा भी अल्प, जागृत सहज रहे अविकल्प।
 स्वाश्रय से लुँचे सु कषाय, केशलोच बाहर सुखदाय ॥२७॥
 खड़े-खड़े हो अल्पाहार, एकबार संयम चित्त धार।
 न हो दन्तवन हिंसारूप, धन्य जैन मुनि मंगलरूप ॥२८॥
 नभ समान निर्लेप असंग, ध्यावें शुद्ध चिद्रूप अनंग।
 दर्शवें जग में सुखकार, ध्रुव मंगल शुद्धातम सार ॥२९॥
 परम शान्त मुनिवर आदर्श, मोह विनाशक मुनि का दर्श।
 धन्य भाग्य जब दर्शन पाऊँ, हो निर्ग्रन्थ स्वरूप सु ध्याऊँ ॥३०॥

रत्नत्रय शोभित अहो, धन्य साधु निर्ग्रन्थ।
 सार्धे आत्मस्वरूप निज, दर्शवें शिवपंथ ॥

शुद्धात्म-चिन्तवन (परमार्थ स्तवन)

(दोहा)

सहज शुद्ध ज्ञायक अमल, नित्यमुक्त भगवान ।
शोभित निज अनुभूति युत, परमानन्दमय जान ॥१॥

(चौपाई)

जय जय चिदानन्द भगवान । ध्येयरूप ध्याऊँ अम्लान ॥
जय जय सहज चतुष्टयवन्त । शाश्वत प्रभु अंतर विलसंत ॥२॥
निष्कलंक निर्द्वन्द्व स्वरूप । निर्विकल्प चिद्रूप अनूप ॥
विन्मूरति चिन्मूरति आप । जाकी धुन में पुण्य न पाप ॥३॥
जय जय परम धरम दातार । जय जय बंध विनाशनहार ॥
मुक्तिदशा प्रगटावनहार । सहज अकर्ता जाननहार ॥४॥
ग्रहण-त्याग का जहाँ न काम । सहज पूर्ण नित आतमराम ॥
जय जय परमब्रह्म निष्काम । प्रगटे ब्रह्मचर्य सुखधाम ॥५॥
आधि व्याधि उपाधि विहीन । सहज समाधिस्वरूप प्रवीन ॥
शाश्वत तीर्थरूप अविकार । सहजपने ही तारणहार ॥६॥
अनन्तज्ञान में भी सु अनन्त । महिमा का दीखे नहीं अन्त ॥
दर्शन तें उपजे आनन्द । प्रभु अविनाशी अमृतचन्द्र ॥७॥
ज्ञान सुधारस पिये जु कोय । अजर अमर पद पावे सोय ॥
नित्य निरंजन परम पवित्र । स्वानुभव गोचर सहज विचित्र ॥८॥
लोकोत्तम ध्रुव मंगल रूप । अनन्य शरण आराध्य स्वरूप ॥
जय जय सहज तृप्त निर्दोष । गुण अनन्तमय माणिक कोष ॥९॥
यद्यपि कर्म संयोग अनादि, हो रागादिक हर्ष-विषाद ॥
भ्रमता फिरे चतुर्गति माँहिं, लहे एक क्षण साता नाहिं ॥१०॥
वर्ते तदपि सदा निर्बन्ध, सहज ज्ञानमय ज्योति अमंद ॥
निष्कल निर्विकार अभिराम । एकरूप नित आतमराम ॥११॥

नहीं उपजे नहीं विनशे। बंध मुक्ति को कदा न परसे॥
 भिन्न सदैव रहें ये स्वाँग। ज्ञायक तो ज्ञायक ही जान॥१२॥
 परम पारिणामिक अविकार। धीर वीर गम्भीर उदार॥
 स्वयंसिद्ध शाश्वत परमात्म। अद्भुत प्रभुतामय शुद्धात्म॥१३॥
 द्रव्यदृष्टि से प्रत्यक्ष देख। उपज्यो उर आनन्द विशेष॥
 मिटी भ्रान्ति प्रगटी सुख शान्ति। निज में ही पाई विश्रान्ति॥१४॥
 मिथ्या कर्तृत्व भाव पलाय। राग-द्वेष सब गये विलाय॥
 सहजहिं जाननहार जनाय। अद्भुत चिद्विलास विलसाय॥१५॥

स्वतः स्वयं में तृप्त हूँ, विनशें सर्व विभाव।
 रहूँ सहज निर्ग्रन्थ नित, भाऊँ शुद्ध स्वभाव॥

नित्य-भावना

मैं एक ज्ञायकभाव भाऊँ अन्य वांछा कुछ नहीं।
 अनुभूति ज्ञायकभावमय वर्ते सुकाल अनन्त ही॥१॥
 सविकल्पता में हे प्रभो ! पुरुषार्थ ऐसा ही करूँ।
 चैतन्य प्राप्ति का निमित्त अरहंत का दर्शन करूँ॥२॥
 चिन्तन सुसिद्ध स्वरूप का कर भेदज्ञान हृदय धरूँ।
 निष्कर्म ध्रुव अरु अचल अनुपम स्वयं सिद्धस्वरूप हूँ॥३॥
 कर वंदना आचार्य की नित द्रव्य एवं भाव से।
 निर्ग्रन्थ दीक्षा की अहो हो भावना अतिचाव से॥४॥
 उपाध्याय गुरुवर के समीप सुज्ञान का अभ्यास हो।
 संतुष्टि हो आराधना में नहीं पर की आस हो॥५॥
 हो साधुजन की संगति अरु असंगपद की दृष्टि हो।
 जग से उदासी हो सहज वैराग्यमय मम सृष्टि हो॥६॥

जिन चैत्य-चैत्यालय अकृत्रिम-कृत्रिम भी अति भा रहे।
 अशरण जगत में शरण सुखमय ये ही प्रभु दर्शा रहे ॥७॥
 जग में न कोई दूसरी जिनवाणी माँ व्यवहार है।
 इस दुःषम भीषण काल में जिनवाणी ही आधार है ॥८॥
 जिनधर्म ही सत्यार्थ भासे सहज वस्तु स्वभाव है।
 जो है अहिंसा रूप जिसमें नहीं विराधक भाव है ॥९॥
 है मूल सम्यक्दर्श जिसका ज्ञानमय जो धर्म है।
 अवकाश नहीं है रूढ़ियों का साम्य जिसका मर्म है ॥१०॥
 लक्षण कहे दश धर्म के सब ही को मंगलरूप है।
 व्याधि-उपाधि नहीं जिनमें सहज आत्मस्वरूप है ॥११॥
 इस धर्म की ही हो सदा जगमाँहिं परम प्रभावना।
 स्वप्न में भी हो नहीं किंचित् कभी दुर्भावना ॥१२॥
 मैत्री रहे सब प्राणियों से गुणीजनों में मोद हो।
 दीन-दुःखियों पर दया, विपरीत पर नहीं क्षोभ हो ॥१३॥
 संवेग अरु वैराग्य वृद्धिगत सदा होते रहें।
 उर-भूमि में नित धर्म के ही बीज शुभ बोते रहे ॥१४॥
 हो धर्मपर्वों प्रति सहज उत्साह अन्तर में सदा।
 समभाव मंगलमय रहे कुछ पाप नहीं लागे कदा ॥१५॥
 मूर्छा न हो परभाव में एकान्त का सेवन करूँ।
 नित तीर्थक्षेत्रों में अहो आनन्द का वेदन करूँ ॥१६॥
 निरपेक्ष हो स्वाधीन हो मम वृत्ति हो चिद् ब्रह्ममय।
 हो ब्रह्मचर्य परमार्थ पूर्ण स्वपद लहूँ अक्षय अभय ॥१७॥

आत्मा को जाने बिना दुख मिटता नहीं और
 आत्मा को जानने पर दुख रहता नहीं ।

सम्बोधनाष्टक

झूठे सर्व विकल्प, शरण है एक ही शुद्धात्म।
 निर्विकल्प आनन्दमयी, प्रभु शाश्वत परमात्म॥१॥
 है अत्यन्ताभाव सदा फिर कोई क्या कर सकता।
 व्यर्थ विकल्पों से उपजी क्या पीड़ा हर सकता॥२॥
 द्रव्यदृष्टि से देखो तुम तो सदाकाल सुखरूप।
 परभावों से शून्य सहज चिन्मात्र चिदानन्द रूप॥३॥
 नहीं सूर्य में अंधकार त्यों दुःख नहीं ज्ञायक में।
 दुःख का ज्ञाता कहो भले, पर ज्ञायक नहीं दुःख में॥४॥
 ज्ञायक तो ज्ञायक में रहता, ज्ञायक ज्ञायक ही।
 गल्प नहीं यह परम सत्य है, अनुभव योग्य यही॥५॥
 भूल स्वयं को व्यर्थ आकुलित हुए फिरो भव में।
 जानो जाननहार स्वयं आनन्द प्रगटे निज में॥६॥
 हुआ न होगा कोई सहाई झूठी आस तजो।
 नहीं जरूरत भी तुमको अब अपनी ओर लखो॥७॥
 पूर्ण स्वयं में तृप्त स्वयं में आप ही आप प्रभो।
 सहज मुक्त हो, स्वयं सिद्ध हो, जाननहार रहो॥८॥

जिनधर्म

जिनधर्म ही भ्रममूल नाशक अहो मंगल जगत में।
 जिनधर्म ही शिवपथ प्रकाशक अहो उत्तम जगत में॥१॥
 सम्यक् अहिंसामय धर्म ही शरणभूत सु जानियो।
 निजभाव भासक कर्म नाशक जिनधर्म पहिचानियो॥२॥
 रत्नत्रयमय यह धर्म उत्तम क्षमादि स्वरूप है।
 निरपेक्ष पर से सहज स्वाश्रित परम आनन्दरूप है॥३॥

जिनधर्म धारे तृप्ति हो निज माँहिं निज से सहज ही।
 निर्वृत आस्रव से सहज विज्ञानघन हो सहज ही ॥४॥
 भवताप नाशे गुण प्रकाशे मुक्ति पद दातार है।
 स्वानुभवमय जिनधरम ही सर्व मंगलकार है ॥५॥
 महाभाग्य सु पाइयो मैंने अलौकिक जिनधरम।
 निशंक हो निर्ग्रन्थ हो प्रभुवर प्रभावूँ जिनधरम ॥६॥
 भो सुखार्थी सहज समझो तत्त्व मंगलमय अहो।
 भो मुमुक्षु सहज धारो धर्म मंगलमय अहो ॥७॥
 स्वार्थमय संसार में निज स्वार्थसिद्धि सु कीजिए।
 मध्यस्थ हो चारित्र गहो, परभाव सब तज दीजिए ॥८॥
 नहीं चूक जाना मोहवश अवसर मिला दुर्लभ अहो।
 निजभाव की आराधना से है सुलभ निजपद अहो ॥९॥

अक्षय-तृतीया

अक्षय तृतीया पर्व है मंगलमय अविकार।
 ऋषभदेव मुनिराज का हुआ प्रथम आहार ॥
 दीक्षा लेकर ऋषभ मुनीश्वर छह महीने उपवास किया।
 फिर आहार निमित्त ऋषीश्वर जगह जगह परिभ्रमण किया ॥१॥
 कोई हाथी घोड़े वस्त्राभूषण रत्नों के भर थाल।
 ले सन्मुख आदर से आवें, देख साधु लौटें तत्काल ॥२॥
 नहीं जाने आहार-विधि, इससे सब ही लाचार हुए।
 अन्तराय का उदय रहा, तेरह महीने नौ दिवस हुए ॥३॥
 धन्य मुनीश्वर धन्य आत्मबल आकुलता का लेश नहीं।
 तृप्त स्वयं में मग्न स्वयं में किंचित् भी संक्लेश नहीं ॥४॥
 उदय नहीं हो दुःख का कारण, यदि स्वभाव का आश्रय हो।
 निज से च्युत हो दुःखी रहे, तो फिर उपचार उदय पर हो ॥५॥

दोष देखना किन्तु उदय का, कही अनीति जिनागम में।
 उदय उदय में ही रहता है, नहीं प्रविष्ट हो आतम में ॥६॥
 भेदज्ञान कर द्रव्यदृष्टि धर, स्वयं स्वयं में मग्न रहो।
 स्वाश्रय से ही शान्ति मिलेगी, आकुलता नहीं व्यर्थ करो ॥७॥
 अशरण जग में अरे आत्मन् ! नहीं कोई हो अवलम्बन।
 तजकर झूठी आस पराई, अपने प्रभु का करो भजन ॥८॥
 इन्द्रादिक से सेवक चक्री कामदेव से सुत जिनके।
 देखो एक समय पहले भी नहीं आहार हुए उनके ॥९॥
 हुई योग्यता सहजपने ही सर्व निमित्त मिले तत्क्षण।
 मंगल स्वप्नों का फल सुनकर श्री श्रेयांस थे हर्ष मग्न ॥१०॥
 देखा आते ऋषभ मुनि को जातिस्मरण हुआ सुखकार।
 नवधा भक्ति पूर्वक नृप ने दिया इक्षुरस का आहार ॥११॥
 पंचाश्चर्य किये देवों ने रत्न पुष्प थे बरसाए।
 पवन सुगंधित शीतल चलती, जय जय से नभ गुंजाए ॥१२॥
 धन्य पात्र हैं धन्य हैं दाता, धन्य दिवस धनि हैं आहार।
 दानतीर्थ का हुआ प्रवर्तन, घर-घर होवे मंगलाचार ॥१३॥
 तिथि वैशाख सुदी तृतीया थी अक्षय तृतीया पर्व चला।
 आदीश्वर की स्तुति करते सहजहि मुक्ति मार्ग मिला ॥१४॥
 ऋषभदेव सम रहे धीरता आराधन निर्विघ्न खिले।
 भोजन भी न मिले फिर भी नहीं आराधन से चित्त चले ॥१५॥
 थकित हुआ हूँ भव भोगों से लेश मात्र नहीं सुख पाया।
 हो निराश सब जग से स्वामिन् चरण शरण में हूँ आया ॥१६॥
 यही भावना स्वयं स्वयं में तृप्त रहूँ प्रभु तुष्ट रहूँ।
 ध्येय रूप निज पद को ध्याते ध्याते शिवपद प्रगट करूँ ॥१७॥

ब्रह्मचर्य ध्रुव ब्रह्ममयी

ब्रह्मचर्य की अद्भुत महिमा, सुनो भव्य कल्याणमयी ।
 जिससे कटती भव की संतति दुःखमयी अज्ञानमयी ॥टेक॥
 परमब्रह्म शाश्वत परमात्म नित्य निरंजन देव है ।
 सहजज्ञानमय सहजानन्दमय सहजमुक्त स्वयमेव है ॥
 निर्विकल्प आह्लादरूप हो स्वानुभूति आनन्दमयी ॥१॥जिससे..
 सहज तृप्त हो सहज तुष्ट हो सहज दृष्टि टिक जाती है ।
 सर्व समर्पण हो आत्म प्रति, सहज मग्नता होती है ॥
 परिणति में यह ध्रुव प्रियतम का मिलन परम आनन्दमयी ॥२॥जिससे
 ज्ञायक में अपनत्व हुआ फिर ज्ञेय भिन्न दिखलाते हैं ।
 चाहे जैसे सुन्दर होवें, मोह नहीं उपजाते हैं ॥
 जीवन निर्विकार हो जाता सहज शुद्ध चिद्रूपमयी ॥३॥जिससे..
 सतत् सदा ही स्वयं स्वयं में सहज ही अमृत झरता है ।
 शुद्ध चेतना का विलास ही सहज अनन्त पसरता है ॥
 भेद विकल्प भी नहीं उपजावे चर्या होवे ब्रह्ममयी ॥४॥जिससे..
 अक्षय अद्भुत प्रभुता प्रगटे, नशते सर्व विभाव हैं ।
 सहज अलौकिक शुद्ध चेतनामयी होंय सब भाव हैं ॥
 नित्य शुद्ध शाश्वत वैभव है साम्राज्य है ज्ञानमयी ॥५॥जिससे..
 धन्य धन्य निर्मोही हो निर्ग्रन्थ होय कर कल्याणी ।
 जीवराज को वरण किया है, परिणति हुई मुक्ति रानी ॥
 तिहुँ जगमाँहीं पूज्य हुई है स्वयं सहज ही मुक्तिमयी ॥६॥जिससे..
 आत्मविमुख हो पर को देखे, वह तो मूढ़ गंवार रे ।
 भोग-वासनाओं में फंसकर घूमे बहु संसार रे ॥
 सर्व समागम आज मिला है छोड़ो परिणति रागमयी ॥७॥जिससे

चेतो चेतन अब भी अवसर, पर का कोई दोष नहीं ।
 भूल तजो हठ छोड़ो भाई, मिले न पर में तोष कहीं ॥
 जानो मानो सदा आचरो, तत्त्व सहज आनन्दमयी ॥८॥जिससे
 पड़े नहीं पीछे पछताना, इसीलिए पहले सोचो ।
 परमसत्य शिवमय सुन्दरतम परमब्रह्म अन्तर देखो ॥
 धारो-धारो सारभूत दृढ़, ब्रह्मचर्य ध्रुव ब्रह्ममयी ॥९॥जिससे

निर्मुक्ति-भावना

जिनधर्म पाया है परम निर्मुक्त बनूँगा ।
 निर्मुक्त हूँ स्वभाव से निर्मुक्त रहूँगा ॥टेक॥
 परभावों से अति भिन्न है शुद्धात्मा अपना ।
 निज वैभव से आपूर्ण है ध्रुव आत्मा अपना ॥
 हो निर्विकल्प आत्मा हूँ अनुभव करूँगा ॥ जिनधर्म...॥१॥
 जब देह ही अपनी नहीं परिवार फिर कैसा ?
 कर्तृत्व ही पर का नहीं फिर भार हो कैसा ?
 निर्भार ज्ञातारूप हूँ ज्ञाता ही रहूँगा ॥
 मैं झौंक भार को भार में निर्भार रहूँगा ॥ जिनधर्म...॥२॥
 स्वामित्व कुछ पर का नहीं, सम्बन्ध नहीं पर से ।
 निर्बन्ध एक शुद्ध हूँ नहीं बन्ध हो पर से ॥
 निज शान्त रस को वेदता निर्द्वन्द्व रहूँगा ॥
 जिनधर्म पाया है परम निर्मुक्त बनूँगा ॥३॥
 विपरीतता या न्यूनता नहीं निज स्वभाव में ।
 पर की अपेक्षा है नहीं आत्म स्वभाव में ॥
 हो निर्मोही सम्यक्त्वादिक से पुष्ट रहूँगा ॥जिनधर्म...॥४॥

है रूप निज एकत्व-विभक्त सहज जाना।
 भोगों से अति निरपेक्ष निज स्वाधीन सुख माना ॥
 नहीं चाह कुछ पर की रही निष्काम रहूँगा ॥जिनधर्म...॥५॥
 अक्षय विभव निज का परम उत्कृष्ट है देखा।
 अब तो लगे जग का सभी मिथ्या असत् लेखा ॥
 निर्ग्रन्थ पद भाता हुआ निर्ग्रन्थ रहूँगा ॥जिनधर्म...॥६॥
 शक्ति अनन्त देखते सन्तुष्ट हो गया।
 प्रभुता अलौकिक देखते अति तृप्त हो गया ॥
 नहीं और कुछ सुहाय निज में मग्न रहूँगा ॥ जिनधर्म...॥७॥
 उत्साह निवृत्त हो गया पर जानने का भी।
 फिर भाव कैसे आयेगा दुर्भोगों का सही ॥
 निशल्य शान्त चित्त हुआ निकलक रहूँगा ॥ जिनधर्म...॥८॥
 शुभभाव रूप ब्रह्मचर्य में तोष नहीं आवे।
 परमार्थता परिपूर्णता को चित्त ललचावे ॥
 निजब्रह्म पाया है परम ब्रह्मचर्य धरूँगा। जिनधर्म...॥९॥
 कुछ भय नहीं शंका नहीं भगवान हैं पाये।
 ज्ञानी गुरु पाकर परम आनन्द विलसाये ॥
 जिनवाणी सी माता पाई भव में ना भ्रमूँगा ॥ जिनधर्म...॥१०॥
 सब कर्मफल संन्यास की अब भावना भाऊँ।
 निष्कर्म ज्ञायकभाव में ही सहज रम जाऊँ ॥
 बोधिसमाधि को पाकर निज साध्य लहूँगा ॥ जिनधर्म...॥११॥

जिसे अपने चैतन्यनाथ का भान नहीं एवं जिननाथ के प्रति भक्ति नहीं, वह अनाथ है।

पुण्य की विभूति सहजपने भी मिले तो भोगनेयोग्य नहीं और शुद्धात्मा बहुत पुरुषार्थ करके भी अनुभव के योग्य है।

आराधना का फल

आराधना का फल देखो जिनवर दिखा रहे।
 अपना सर्वस्व अपने में प्रभुवर बता रहे ॥टेक॥
 देखो तुम ज्ञानदृष्टि से प्रभु तृप्त निज में ही।
 नाशा दृष्टि दर्शा रही सुख शान्ति निज में ही ॥
 निस्सार जग के वैभव अरु पंचेन्द्रिय भोग रे ॥ आराधना. ॥१॥
 क्रमरूप सहज होता है सब ही का परिणमन।
 कर्तृत्व मिथ्या क्यों करे किंचित् न हो फिरण ॥
 ज्ञातृत्व का आनन्द तो प्रभुवर दर्शा रहे ॥ आराधना. ॥२॥
 अतीन्द्रिय यह अनन्त दर्शन ज्ञान सुख वीरज।
 निर्मुक्त अक्षय प्रभुतामय छूती न कर्म रज ॥
 ऐसी महिमा अपने में ही अपने से प्रगटे रे ॥ आराधना. ॥३॥
 चैतन्य रत्नाकर में अपने रत्न हैं अनन्त।
 नहीं केवलज्ञान में भी आया आदि अरु अन्त ॥
 है सहज प्राप्त उनको अपने में जो गहरे उतरे ॥ आराधना. ॥४॥
 सोचो चिर से भ्रमते-भ्रमते क्या तुमने है पाया ?
 स्व के जीवन में पाई है क्या सच्चे सुख की छाया ॥
 चंचलता छोड़ो स्थिरता में ही सुख विलसे रे ॥ आराधना. ॥५॥
 उसकी तो चाह नहीं होती जो अपने में नहीं हो।
 दुःख दारिद्र्य बंधन रोगादिक को इच्छे कौन कहो ?
 प्रभुता सुख ज्ञान विभव मुक्ति निज में ही प्रगटे रे ॥ आराधना. ॥६॥
 कुछ कमी नहीं शुद्धातम है परिपूर्ण निज में ही।
 है अपने में ही साध्य और साधन भी निज में ही ॥
 अनुभव में प्रत्यक्ष देखे तब निज महिमा आवे रे ॥ आराधना. ॥७॥

है परमब्रह्म परमात्मा स्वयमेव आनन्दमय।
 अपनाओ पावन ब्रह्मचर्य होकर तुम निर्भय॥
 एकाकी रह एकान्त में निज ध्रुवपद ध्याओ रे॥ आराधना. ॥८॥
 इस मार्ग में दुःख की नहीं कुछ कल्पना करना।
 आदर्श हैं जिनराज अरु शुद्धात्मा शरणा॥
 शक्ति सामर्थ्य भी निज में ही सहज विकसे रे।
 आराधना का फल देखो जिनवर दिखा रहे॥९॥
 निष्कण्टक मुक्तीमार्ग में कण्टक नहीं बोओ
 सब योग तो सहज ही मिले पुरुषार्थ सम्यक् हो।
 स्वप्नोंमें खिसक-खिसक कर मत भवकूप पड़ो रे॥ आराधना. ॥१०॥
 सोचो नलिनी का तोते को आधार ही क्या है ?
 आकाश में तो उड़ने का उसका स्वभाव है।
 पर आश्रय बुद्धि छोड़ो निज में तृप्त रहो रे॥ आराधना. ॥११॥
 तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जीतो विभावों को।
 हो शान्तचित्त धीरज धरो एकाग्रता खुद हो॥
 नहीं दीनता लाओ कभी प्रभुता निहारो रे॥ आराधना. ॥१२॥
 आरम्भ अरु परिग्रह रहित निर्भार हो जीवन।
 आराधना से हो सरस आनन्दमय जीवन॥
 संतुष्ट निज में ही अहिंसामय आचरण रे॥ आराधना. ॥१३॥
 दर्शन आराधना अहो निज नाथ का दर्शन।
 है ज्ञान आराधन अहो निज का ही अनुभवन॥
 थिरता चारित्र्य विश्रान्ति है तप आराधन रे॥ आराधना. ॥१४॥
 आराध्य ध्रुव शुद्धात्मा चिन्मात्र चित्स्वरूप।
 आराधक सम्यज्ञानी जानो फल मुक्ति स्वरूप॥
 निर्मोही हो आराधना में बढ़ते चलो रे॥ आराधना. ॥१५॥

आत्म-भावना (तर्ज-मेरी भावना)

निजस्वभाव में लीन हुए, तब वीतराग सर्वज्ञ हुए।
 भव्य भाग्य अरु कुछ नियोग से, जिनके वचन प्रसिद्ध हुए ॥१॥
 मुक्तिमार्ग मिला भव्यों को, वे भी बंधन मुक्त रहें।
 उनमें निजस्वभाव दर्शकता, देख भक्ति से विनत रहें ॥२॥
 वीतराग सर्वज्ञ ध्वनित जो, सप्त तत्त्व परकाशक है।
 अविरोधी जो न्याय तर्क से, मिथ्यामति का नाशक है ॥३॥
 नहीं उल्लंघ सके प्रतिवादी, धर्म अहिंसा है जिसमें।
 आत्मोन्नति की मार्ग विधायक, जिनवाणी हम नित्य नमें ॥४॥
 विषय कषाय आरम्भ न जिनके, रत्नत्रय निधि रखते हैं।
 मुख्य रूप से निज स्वभाव, साधन में तत्पर रहते हैं ॥५॥
 अट्टाईस मूलगुण जिनके सहजरूप से पलते हैं।
 ऐसे ज्ञानी साधु गुरु का, हम अभिनन्दन करते हैं ॥६॥
 उन सम निज का हो अवलम्बन, उनका ही अनुकरण करूँ।
 उन्हीं जैसी परिचर्या से, आत्मभाव को प्रकट करूँ ॥७॥
 अष्ट मूलगुण धारण कर, अन्याय अनीति त्यागूँ मैं।
 छोड़ अभक्ष्य सप्त व्यसनों, को पंच पाप परिहारूँ मैं ॥८॥
 सदा करूँ स्वाध्याय तत्त्वनिर्णय सामायिक आराधन।
 विनय युक्ति और ज्ञानदान से, राग घटाऊँ मैं पावन ॥९॥
 जितनी मंद कषाय होय, उसका न करूँ अभिमान कभी।
 लक्ष्य पूर्णता का अपनाकर, सहूँ परीषह दुःख सभी ॥१०॥
 गुणीजनों पर हो श्रद्धा, व्यवहार और निश्चय सेवा।
 उनकी करें दुःखी प्रति करुणा, हमको होवे सुख देवा ॥११॥

शत्रु न जग में दीखे कोई, उन पर भी नहीं क्षोभ करूँ।
 यदि संभव हो किसी युक्ति से, उनमें भी सदज्ञान भरूँ ॥१२॥
 राग नहीं हो लक्ष्मी का, नहीं लोकजनों की किंचित् लाज।
 प्रभु वचनों से जो प्रशस्त पथ, उसमें ही होवे अनुराग ॥१३॥
 होय प्रशंसा अथवा निंदा कितने हों उपसर्ग कदा।
 उन पर दृष्टि भी नहीं जावे, परिणति में हो साम्य सदा ॥१४॥
 होवे मौत अभी ही चाहे, कभी न पथ से विचलित हो।
 इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग में, सदा मेरु से अचलित हो ॥१५॥
 चाह नहीं हो परद्रव्यों की, विषयों की तृष्णा जावे।
 क्षण-क्षण चिन्तन रहे तत्त्व का, खोटे भाव नहीं आवे ॥१६॥
 समय-समय निज अनुभव होवे, आतम में थिरता आवे।
 सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चरण से, शिवसुख स्वयं निकट आवे ॥१७॥
 प्रगट होय निर्ग्रन्थ अवस्था, निश्चय आतम ध्यान धरूँ।
 स्वाभाविक आतम गुण प्रगटें, सकल कर्ममल नाश करूँ ॥१८॥
 होवे अन्त भावनाओं का, यही भावना भाता हूँ।
 भेद दृष्टि के सब विकल्प तज, निज स्वभाव में रहता हूँ ॥१९॥

(दोहा)

सुखमय आत्मस्वभाव है, ज्ञाता-दृष्टा ग्राह्य।
 लीन आत्मा में रहे, स्वयं सिद्ध पद पाय ॥२०॥

कानी कौड़ी काज, क्रोरन^१ को लिख देत खत।
 ऐसे मूरखराज, जगवासी जिय देखिये ॥
 कानी कौड़ी विषय सुख, भवदुख करज अपार।
 बिना दियेँ नहीं छूटि हैं, बेशक लेय उधार ॥

१. करोड़ों

— जैन शतक, छन्द २३-२४

दशलक्षण धर्म का मर्म

(सोरठा)

क्षमा भाव अविकार, स्वाश्रय से प्रकटे सुखद ।
 आनन्द अपरम्पार, शत्रु न दीखे जगत में ॥१॥
 मार्दव भाव सुधार, निज रस ज्ञानानंद मय ।
 वेदूँ निज अविकार, नहीं मान नहीं दीनता ॥२॥
 सरल स्वभावी होय, अविनाशी वैभव लहूँ ।
 वांछा रहे न कोय, माया शल्य विनष्ट हो ॥३॥
 परम पवित्र स्वभाव, अविरल वर्ते ध्यान में ।
 नाशे सर्व विभाव, सहजहि उत्तम शौच हो ॥४॥
 सत्स्वरूप शुद्धात्म, जानूँ मानूँ आचरूँ ।
 प्रकटे पद परमात्म, सत्य धर्म सुखकार हो ॥५॥
 संयम हो सुखकार, अहो अतीन्द्रिय ज्ञानमय ।
 उपजे नहीं विकार, परम अहिंसा विस्तरे ॥६॥
 निज में ही विश्राम, जहाँ कोई इच्छा नहीं ।
 ध्याऊँ आतमराम, उत्तम तप मंगलमयी ॥७॥
 परभावों का त्याग, सहज होय आनन्दमय ।
 निज स्वभाव में पाग, रहूँ निराकुल मुक्त प्रभु ॥८॥
 सहज अकिंचन रूप, नहीं परमाणु मात्र मम ।
 भाऊँ शुद्ध चिद्रूप, होय सहज निर्ग्रथ पद ॥९॥
 परम ब्रह्म अम्लान, ध्याऊँ नित निर्द्वन्द्व हो ।
 ब्रह्मचर्य सुख खान, पूर्ण होय आनंदमय ॥१०॥
 एक रूप निज धर्म, दशलक्षण व्यवहार से ।
 स्वाश्रय से यह मर्म, जाना ज्ञान विरागमय ॥११॥

श्री नेमिकुमार निष्क्रमण

श्री नेमि प्रभु की वंदना कर, भक्ति भाव से।
 प्रभु सम ही भाऊँ भावना, छूटूँ विभाव से॥टेका॥
 देखा पशुओं को रुका हुआ प्रभु हो गये गम्भीर।
 धिक्-धिक् ऐसी विषयांधता, दीखे न पराई पीर॥
 इन भोगों की अग्नि में कितने जीव हैं जलते।
 और भोगी भी परिपाक में, भव-भव में दुख सहते॥
 पीड़ा है विषय-कषायों की, मृत्यु से भयंकर।
 हों सहने में असमर्थ तब फिर मूढ़ जन फँसकर॥
 दोई भव नाशें, मोही व्यर्थ मोह भाव से॥ प्रभु...॥१॥
 ऐसी शोभा से क्या जिसमें, निज-पर का पीड़न हो।
 ऐसी शादी से क्या जिसमें, दुखमय भव बंधन हो॥
 स्वतंत्रता का हो हनन, आराधना का घात।
 परिग्रह के ग्रहण में होते, अगणित दुखमय उत्पात॥
 रहता है चंचल चित्त सदा, ही परिग्रहवान का।
 विषयों में जो आसक्त उनके, नित ही मलिनता॥
 सुख लेश भी पावे नहीं, अज्ञानभाव से॥ प्रभु....॥२॥
 पापों के बीज इन्द्रिय सुख, तो दुखमय ही अरे।
 परलक्षी इन्द्रिय ज्ञान भी अज्ञान जान रे॥
 अतीन्द्रिय सुख ही सुख जो पाते हैं जितेन्द्रिय।
 वे ही शिवसाधक हैं, जिन्हें हो ज्ञान अतीन्द्रिय॥
 अतीन्द्रिय ज्ञानानंदमय, शुद्धात्म ही है सार।
 है सहज ज्ञेय-ध्येय रूप, मुक्ति का आधार॥
 शुद्धात्मा प्रभु नित्य निरंजन स्वभाव से॥ प्रभु....॥३॥

तृप्ति सहज ही प्राप्य निज में निज से ही सदा ।
 है झूठी कल्पना भोगों से तृप्ति न कदा ॥
 रहते अतृप्त, मूढ़ आत्मज्ञान के बिना ।
 कितने भव यूँ ही वीत जावें संयम के बिना ॥
 होते हैं हास्य पात्र जो ले दीप भी गिरते ।
 पाकर भी आत्मज्ञान फिर जग-जाल में फँसते ॥
 कल्याण का अवसर गँवावे मूढ़ भाव से ॥
 प्रभु सम ही भाऊँ भावना, छूटूँ विभाव से ॥४॥
 संयममय जीवन ही अहो, ज्ञानी को शोभता ।
 बढ़ती प्रभावना सहज होती है पूज्यता ॥
 जो त्यागने के योग्य ही, फिर क्यों करूँ स्वीकार ।
 इससे अधिक क्या कायरता, नरभव की जिसमें हार ॥
 क्षण भी विलम्ब योग्य नहीं, कल्याणमार्ग में ।
 निरपेक्ष हो बढ़ना मुझे अब मुक्तिमार्ग में ॥
 निर्ग्रन्थ हो आराधूँ निज पद सहजभाव से ॥ प्रभु... ॥५॥
 तोड़े कंगन के बंधन, सिर का मौर उतारा ।
 धनि-धनि प्रभुवर का भाव, जिससे काम था हारा ॥
 जिन-भावना भाते हुए गिरनार चल दिए ।
 आसन्नभव्य दीक्षा लेने साथ चल दिए ॥
 गूँजा था जय-जयकार उत्सव धर्ममय हुआ ।
 तपकल्याणक का शुभ नियोग देवों ने किया ॥
 साक्षात् दिगम्बर हुए अत्यन्त चाव से ॥ प्रभु... ॥६॥
 ज्यों ही जाना यह हाल, राजुल हो गयी विह्वल ।
 होकर सचेत शीघ्र ही, जागृत किया निज बल ॥
 परिवारी जन तो रागवश, अति खिन्न चित्त थे ।
 शादी करें किसी और से, समझावते यों थे ॥

बोली राजुल मत गालियाँ, मम शील को तुम दो।
 सतवन्ती नारियों का केवल, एक पति ही हो॥
 नाता जोड़ा मैंने अब केवल, ज्ञायकभाव से।
 प्रभु सम ही भाऊँ भावना, छूटूँ विभाव से॥७॥
 व्यवहार में भी भाव से श्री नेमि स्वीकारे।
 दर्शाकर श्रेयो मार्ग वे, गिरनार पधारे॥
 उनका ही पावन मार्ग, अंगीकार है मुझे।
 उनके द्वारा त्यागे भोगों, की चाह नहीं मुझे॥
 आनंदित हो मोदन करो, मैं होऊँ आर्यिका।
 छोड़ूँ स्त्रीलिंग नाशूँ, दुखमय बीज पाप का॥
 धारूँ निवृत्तिमय दीक्षा अति हर्षभाव से॥ प्रभु....॥८॥
 मंगलमय ऐसे अवसर में, आँसू ना बहाओ।
 आनंदमय जिनमार्ग, कुछ विकल्प मत लाओ॥
 आदर्श रूप नेमि प्रभु का अनुसरण करो।
 परभावों से है भिन्न आतम अनुभवन करो॥
 होता नहीं स्त्री-पुरुष व क्लीव आत्मा।
 ध्रुव एक रूप ज्ञानमय है शुद्ध आत्मा॥
 परमार्थ प्रतिक्रमण करो, सहज भाव से॥ प्रभु....॥९॥
 कुछ मोहवश संकोचवश, भवि चूक ना जाना।
 साधो परम उत्साह से, शंका नहीं लाना॥
 उत्कृष्ट समयसार से, कुछ अन्य नहीं है।
 अनुभव प्रमाण स्वयं करो, धोखा नहीं है॥
 शुद्धात्मा के ध्यान में, सब कर्म नशायें।
 आत्मा बने परमात्मा गुण सर्व विलसायें॥
 अनुभूत-मग दर्शाया प्रभु, वीतरागभाव से॥ प्रभु...॥१०॥

सम्बोधन करके यों राजुल, गिरनार को गई।
 वन्दन कर नेमिनाथ को, वह आर्थिका हुई॥
 नेमीश्वर तो मुक्ति गये, वह स्वर्ग को गई।
 पावन गाथा वैराग्यमय, विख्यात है हुई॥
 प्रेरित करे भव्यों को, सम्यक् निवृत्ति मार्ग में।
 मैं भी विचरूँ साक्षात् प्रभु निर्ग्रन्थ मार्ग में॥
 हो सहज सफल, भावना अंतरंग भाव से।
 प्रभु सम ही भाऊँ भावना, छूटूँ विभाव से॥११॥

श्री यशोधर गाथा

धन्य यशोधर मुनि-सी समता, मम परिणति में प्रगटावे।
 ज्ञाता-दृष्टा रह जाऊँ बस, राग-द्वेष विनश जावे॥टेका॥
 एक दिवस जंगल में मुनिवर, आतम ध्यान लगाया है।
 जैन धर्म प्रति द्वेष धरे, श्रेणिक मृगया को आया है॥
 किन्तु यत्न सब व्यर्थ हुये, कोई शिकार नहीं पाता है।
 तभी शिला पर श्री मुनिवर का, पावन रूप दिखाता है॥
 जिनकी वीतरागमुद्रा लख, भव-भवकेदुःखनश जावें॥ज्ञाता....॥१॥
 जान चलना के गुरु हैं, तो बदला लेने की ठानी।
 क्रूर शिकारी कुत्ते छोड़े, किंचित् दया न उर आनी॥
 उन ऋषिवर का साम्यभाव लख, वे कुत्ते तो शान्त हुये।
 किन्तु समझ कीलित कुत्तों को, भाव नृपति के क्रुद्ध हुये॥
 जैसी होनहार हो जिसकी, वैसी परिणति हो जावे॥ज्ञाता....॥२॥
 देखो सबका स्वयं परिणमन, निमित्त नहीं कुछ करता है।
 नहीं प्रेरणा, मदद, प्रभावित कोई किसी को करता है॥
 वस्तु स्वभाव न जाने मूर्ख, व्यर्थ खेद अभिमान करे।
 ठाने उद्यम झूठे जग में, सदाकाल आकुलित रहे॥

छोड़ निमित्ताधीन दृष्टि निज भाव लखे सुख ही पावे ।
 ज्ञाता-दृष्टा रह जाऊँ बस, राग-द्वेष विनश जावे ॥३॥

तत्क्षण सर्प भयंकर देखा, मार गले में डाल दिया ।
 क्रूर रौद्र परिणामों से, तब नरक सातवाँ बंध किया ॥
 अट्टहास कर घर आया, पर तीन दिनों तक व्यस्त रहा ।
 समाचार देने चौथे दिन, सती चलना पास गया ॥
 मोही पाप बंध करके भी देखो कैसा हरषावे ॥ ज्ञाता....॥४॥

सुनकर दुखद भयानक घटना, भक्ति उर में उमड़ानी ।
 त्याग अन्न जल उसी समय, उपसर्ग निवारण की ठानी ॥
 श्रेणिक बोला अरे प्रिये ! क्यों मुनि ने कष्ट सहा होगा ।
 मेरे आने के तत्क्षण ही, सर्प दूर फैंका होगा ॥
 अज्ञानी क्या ज्ञानीजन का, अन्तर रूप समझ पावे ॥ ज्ञाता.... ॥५॥

बोली तुरन्त चलना राजन्! यदि वे सच्चे गुरु होंगे ।
 उसी अवस्था में अविचल, निजध्यान लीन बैठे होंगे ॥
 तुमने द्वेष भाव से भूपति, घोर पाप का बंध किया ।
 मुनि पर कर उपसर्ग, स्वयं को स्वयं दुःख में डाल दिया ॥
 व्यर्थ कषार्ये करके प्राणी, खुद ही भव-भव दुख पावे ॥ ज्ञाता....॥६॥

आगे-आगे चले चलना, उर दुख-सुख का मिश्रण था ।
 कौतूहलमय विस्मय पूरित, श्रेणिक का अन्तस्तल था ॥
 परमशान्त निजध्यान लीन, मुनिवर को ज्यों ही देखा था ।
 किया दूर उपसर्ग शीघ्र ही, श्रद्धा से नत श्रेणिक था ॥
 ज्ञानीजन तो पहले सोचे, मूर्ख पीछे पछतावे ॥ ज्ञाता....॥७॥

धन्य मुनीश्वर साम्यभाव धर, धर्मवृद्धि दोनों को दी ।
 श्रेणिक और चलना में नहीं, इष्ट-अनिष्ट कल्पना की ॥

पश्चाताप नृपति को भारी, कैसे मुँह दिखलाऊँ मैं।
 अश्रुपूर्ण हो गये नेत्र अरु, आत्मघात आया मन में॥
 निज दुष्कृत्यों पर अब नृप को, बार-बार ग्लानि आवे॥
 ज्ञाता-दृष्टा रह जाऊँ बस, राग-द्वेष विनश जावे॥८॥
 मन की बात ऋषीश्वर जानी, बोले नृप क्या सोच रहे।
 पाप नहीं पापों से धुलते, आत्मघात क्यों सोच रहे॥
 प्राग्भाव है भूतकाल में, ग्लानि चिंता दूर करो॥
 धर्म नहीं पहिचाना अब तक, तो अब ही पुरुषार्थ करो॥
 जागो तभी सवेरा राजन्! गया वक्त फिर नहीं आवे॥ ज्ञाता....॥९॥
 पर्यायें तो प्रतिक्षण बदलें, मैं उन रूप नहीं होता।
 आभूषण बहु भाँति बनें, स्वर्णत्व नहीं सोना खोता॥
 मत पर्यायों को ही देखो, ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि धरो।
 परभावों से भिन्न ज्ञानमय, ही मैं हूँ श्रद्धान करो॥
 ये ही निश्चय सम्यक् दर्शन, मुक्तिपुरी में ले जावे॥ ज्ञाता....॥१०॥
 सच्चे सुख का मार्ग प्रदर्शक, जिनशासन ही सुखकारी।
 भावी तीर्थकर तुम होंगे, सोच तजो सब दुखकारी॥
 आनंदित होकर श्रेणिक तब, जैनधर्म स्वीकार किया।
 अन्तर्दृष्टि धारण करके, सम्यग्दर्शन प्रगट किया॥
 आयु बंध भी हीन हो गया, प्रथम नरक में ही जावे॥
 ज्ञाता-दृष्टा रह जाऊँ बस, राग-द्वेष विनश जावे॥११॥
 देखो निमित्त न सुख-दुख देता, झूठी पर की आश तजो।
 पर से भिन्न सहज सुख सागर में ही प्रतिक्षण केलि करो॥
 दोष नहीं देना पर को, निज में सम्यक् पुरुषार्थ करो।
 मोह हलाहल बहुत पिया है, साम्य सुधा अब पान करो॥
 साम्यभाव ही उत्तम औषधि, भ्रमण रोग जासों जावे॥ ज्ञाता....॥१२॥

श्री अकलंक-निकलंक गाथा

अकलंक अरु निकलंक दो थे सहोदर भाई।
 प्राणों पर खेल की, धर्म की रक्षा सुखदाई॥ टेक॥
 धनि-धनि हैं भोगों को न अंगीकार ही किया।
 बचपन में ही मुनिराज से ब्रह्मचर्य व्रत लिया॥
 व्रत लेकर आनन्दमय जीवन की नींव धराई॥ प्राणों ...॥१॥
 तत्त्वज्ञान के अभ्यास में ही चित्त लगाया।
 दुर्वासनाओं की जिन्हें, नहीं छू सकी छाया॥
 दुर्मोहतम हो कैसे ? ज्ञान ज्योति जगाई॥ प्राणों ...॥२॥
 अज्ञान में ही कष्टमय, संयम अरे भासे।
 संयम हो परमानन्दमय, जहाँ ज्ञान प्रकाशे॥
 इससे ही भेदज्ञान कला मूल बताई ॥ प्राणों पर...३॥
 बोद्धों का बोलबाला था, जिनधर्म संकट में।
 अत्याचारों से त्रस्त थे जिनधर्मी क्षण-क्षण में॥
 जिनधर्म की प्रभावना की भावना आई ॥ प्राणों पर...॥४॥
 माता-पिता ने जब रखा, प्रस्ताव शादी का।
 बोले बरवादी का है मूल, स्वांग शादी का॥
 दिलवा कर ब्रह्मचर्य, तात ! क्या ये सुनाई ॥ प्राणों पर...॥५॥
 बोले पिता अष्टाह्निका, में मात्र व्रत दिया।
 हे तात ! तुमने कब कहा, हम पूर्णव्रत लिया॥
 मुक्ति के मार्ग में नहीं होती है हँसाई ॥ प्राणों पर...॥६॥
 आजीवन पालेंगे, हम तो ब्रह्मचर्य सुखकारी।
 सौभाग्य से पाया है, रत्न ये मंगलकारी॥
 भव रोग की इक मात्र ये ही साँची दवाई ॥ प्राणों पर...॥७॥

मोदन करो सब ही अहो, हम ब्रह्मचर्य धारें।
 जीवन तो धर्म के लिये, हम मौत स्वीकारें॥
 आराधना ही सुख स्वरूप मन में समाई।
 प्राणों पर खेल की, धर्म की रक्षा सुखदाई ॥८॥
 आशीष ले माता-पिता से, बौद्ध मठ गये।
 प्रच्छन्न बौद्ध रूप में दर्शन सभी पढ़े।
 जैनों को शिक्षा पाने की थी सख्त मनाई ॥प्राणों पर...॥९॥
 स्याद्वाद पढ़ाते श्लोक एक अशुद्ध हुआ।
 आचार्य थे बाहर गये, अकलंक शुद्ध किया॥
 श्लोक शुद्ध करना हुआ, गजब दुखदाई।
 प्राणों पर खेल की, धर्म की रक्षा सुखदाई ॥१०॥
 आचार्य को शंका हुई, कोई जैन होने की।
 प्रतिमा दिगम्बर रखकर, आज्ञा दी थी लाँघने की॥
 तब धागा ग्रीवा में लपेट, लाँघ गये भाई ॥प्राणों पर...॥११॥
 फिर अर्द्ध रात्रि के समय, घनघोर स्वर हुआ।
 अरहंत-सिद्ध कहते हुये, सैनिक पकड़ लिया॥
 होकर निडर बोले थे हम, जिनधर्म अनुयायी ॥प्राणों पर...॥१२॥
 लालच दिये और भय दिखाये, पर नहीं डिगे।
 श्रद्धान से जिनधर्म के किंचित् नहीं चिगे॥
 झुँझला कर निर्दय होकर, सजा मौत सुनाई ॥प्राणों पर...॥१३॥
 पर रात्रि को ही भागे, कारागार से दोई।
 टाले कभी टलती नहीं, भवितव्य जो होई॥
 पीछे दौड़ाये सैनिक अति ही क्रूरता छाई ॥प्राणों पर...॥१४॥
 निकलंक बोले देखो भाई, आ रही सेना।
 हो धर्म की रक्षा, न कोई और कामना॥
 छिप जाओ तुम तालाब में, मैं मरता हूँ भाई ॥प्राणों पर...॥१५॥

अकलंक कहा भाई तुम अपने को बचाओ।
 निकलंक बोले भ्रात उर में मोह मत लाओ॥
 तुम अति समर्थ धर्म की रक्षा में हे भाई ॥प्राणों पर...॥१६॥
 जल्दी करो अब न समय, मैं भावना भाऊँ।
 हो धर्म की प्रभावना, मैं शीश नवाऊँ॥
 जबरन् छिपा दिया, अहो धनि युक्ति यह आई ॥प्राणों पर...॥१७॥
 धोबी को लेकर साथ फिर निकलंक थे दौड़े।
 आये निकट थे सैनिकों के शीघ्र ही घोड़े॥
 आदर्श छोड़ गये अपना शीश कटाई॥
 प्राणों पर खेल की, धर्म की रक्षा सुखदाई॥१८॥
 होकर विरक्त ली अहो, अकलंक मुनि दीक्षा।
 शास्त्रार्थ में पाकर विजय, की धर्म की रक्षा॥
 जिनधर्म की पावन पताका, फिर से फहराई॥ प्राणों ...॥१९॥
 राजा हिम शीतल की सभा, में था हुआ विवाद।
 छह माह तक बाँटा था, श्री जिनधर्म का प्रसाद॥
 परदा हटा घट फोड़ तारा देवी भगाई॥ प्राणों ...॥२०॥
 निकलंक का उत्सर्ग तो, सोते से जगाये।
 अकलंक का दर्शन अहो, सद्बोध कराये॥
 जिनशासन के नभ मण्डल में रवि-शशि सम दो भाई॥ प्राणों ...॥२१॥
 अकलंक अरु निकलंक का आदर्श अपनायें।
 युक्ति सद्ज्ञान, आचरण से धर्म दिपायें॥
 मंगलमय ब्रह्मचर्य होवे हमको सहाई॥ प्राणों ...॥२२॥

सेठ सुदर्शन गाथा

धनि धन्य हैं सेठ सुदर्शन, अद्भुत शील-व्रतधारी।
 जिनकी पावन दृढ़ता से, कुटिला नारी भी हारी॥टेक॥

इक रोज महल में बैठे, दासी ने आय बताया।
 तव मित्र बहुत घबड़ाये, इस क्षण ही तुम्हें बुलाया ॥
 कुछ छल को समझ न पाये, थे सरल परिणति धारी।
 वैसे ही दौड़े पहुँचे, पर वहाँ थी लीला न्यारी ॥
 जिनकी पावन दृढ़ता से, कुटिला नारी भी हारी ॥१॥
 ज्यों सेठ गये थे अन्दर, दरवाजा बंद सु-कीना।
 आसक्ति भरी नारी ने, निर्लज्ज प्रदर्शन कीना ॥
 वह मित्र गया था बाहर, कपिला ने चाल विचारी।
 हो सेठ रूप पर मोहित, उसने की थी तैयारी ॥जिनकी ...॥२॥
 फँस गये धर्म संकट में, तब सेठ विचार सु-कीना।
 इससे तो मरण भला है, निज शील बिना क्या जीना?
 तब हँसे वचन यों बोले, वे अनेकांत के धारी।
 मैं तो हूँ अरे नपुंसक, तूने पहिले न विचारी ॥ जिनकी ...॥३॥
 तत्क्षण ही घृणाभाव कर, हट गयी स्वयं ही पतिता।
 तब सेठ सहज घर आये, लेकर अपनी पावनता।
 पुरुषत्व शीलधारी का, नहीं होय कदापि विकारी।
 नहीं धर्म मार्ग से च्युत हो, रहते ज्ञानी अविकारी ॥ जिनकी ...॥४॥
 ओ भव्य समझना यों ही, आत्मा में शक्ति अनंता।
 पर ज्ञाता-दृष्टा ही है, नहीं होवे पर का कर्ता ॥
 आत्मन् अब भी तो चेतो, छोड़ो भ्रांति दुखकारी।
 कर्तृत्व-विकल्प न लाओ, तब सुख पाओ अविकारी ॥जिनकी ...॥५॥
 इक रोज वसंतोत्सव में, जाते थे सब नर-नारी।
 अभया रानी भी जावे, कपिला भी जाये बेचारी ॥
 तब रथ में आती देखी, सुत गोद लिये एक नारी।
 अभया रानी ने पूछा, किसके सुत सुन्दर प्यारी ॥जिनकी ...॥६॥

दासी ने तुरन्त बताया, जो सेठ सुदर्शन नामी ।
 उनके ही हैं सुत नारी, सुनकर कपिला मुस्कानी ॥
 है सेठ नपुंसक कैसे फिर वह नारी सुत धारी ।
 हँस कर रानी तब बोली, धनि सेठ शील व्रतधारी ॥ जिनकी ...॥७॥

चाहा था उन्हें फंसाना, ठग गयी स्वयं ही तू तो ।
 मूर्खा तू समझ न पाई, तत्काल सेठ युक्ति को ॥
 मैं तो मूर्खा ही ठहरी, बोली झुंझला बेचारी ।
 वश में करके दिखलाओ, तुम रूप बुद्धि बलधारी ॥ जिनकी ...॥८॥

रानी बातों में आयी, बुद्धि विवेक विसरानी ।
 दूती को लालच देकर, तब सेठ मिलन की ठानी ॥
 धर्मात्मा सेठ सुदर्शन, धर नग्न दशा अविकारी ।
 मरघट में ध्यान लगाते, चौदश निशि धीरज धारी ॥ जिनकी ...॥९॥

दूती ने जाल बिछाया, नर मूर्ति तुरत बनवायी ।
 कंधे पर रखकर उसको, महलों के द्वारे आयी ॥
 ज्यों द्वारपाल ने रोका, दूती ने मूर्ति गिरादी ।
 व्रत टूट गया रानी का, तोहि सजा दिलाऊँ भारी ॥ जिनकी ...॥१०॥

यों द्वारपाल वश कीने, तब उठा सेठ को लाई ।
 बैठाया जाय पलंग पर, रानी अति ही हरषाई ॥
 भारी चेष्टायें कीनी, यों रात गुजर गयी सारी ।
 पर ध्यान मग्न थे श्रेष्ठी, उपसर्ग समझ अतिभारी ॥ जिनकी ...॥११॥

ध्रुव का अवलम्बन जिनके, विचलित नहीं होते जग में ।
 उपसर्ग परीषह आवें, पर सतत बढ़ें शिवमग में ॥
 है आत्मज्ञान की महिमा, हो अद्भुत समता धारी ।
 उनकी गरिमा वर्णन में, इन्द्रों की बुद्धि हारी ॥ जिनकी ...॥१२॥

जब विफल स्वयं को जाना, रानी षडयंत्र रचाया ।
 बिखराकर वस्त्राभूषण, तब उसने शोर मचाया ॥

तत्क्षण सब दौड़े आये, नृप क्रोध किया अतिभारी।
 कुछ न्याय अन्याय न जाना, शूली की सजा सुना दी ॥
 जिनकी पावन दृढ़ता से, कुटिला नारी भी हारी ॥१३॥
 शूली के तख्ते पर थे, बैठे वे धर्म धुरन्धर।
 किंचित् घबड़ाहट नहीं, डूबे समता के अन्दर ॥
 तब नभ से पुष्प बरसते, सिंहासन रच गया भारी।
 इन्द्रादिक स्तुति करते, जय-जय बोलें नर-नारी ॥ जिनकी ...॥१४॥
 चम्पापुरि धन्य हुयी थी, अरु वृषभदत्त यश पाया।
 जिनके सुत सेठ सुदर्शन, यह चमत्कार दिखलाया ॥
 पिछले ग्वाले के भव में, श्रद्धा जिनधर्म की धारी।
 फिर श्रेष्ठी सुत होकर यों, महिमा पाई सुखकारी ॥ जिनकी ...॥१५॥
 चरणों में नत हो भूपति, पछताते क्षमा कराते।
 तब सेठ सुदर्शन बोले, हम दीक्षा ले वन जाते ॥
 नहीं दोष किसी का कुछ भी, कर्मों की लीला न्यारी।
 कर्मों का नाश करेंगे, निर्ग्रन्थ दशा धर प्यारी ॥ जिनकी ...॥१६॥
 उत्तम सुयोग पाकर भी, मैं समय न व्यर्थ गँवाऊँ।
 भोगों के दुख बहु पाये, अब इनमें नाहिं फँसाऊँ ॥
 नश्वर अशरण जगभर में, शुद्धात्म ही सुखकारी।
 निज में ही तृप्ति पाऊँ, संकल्प जगा हितकारी ॥ जिनकी ...॥१७॥
 मुनि हो तप करते-करते, पटना नगरी में आये।
 उपसर्ग वहाँ भी भारी, पर किंचित् नहीं चिगाये ॥
 फिर शुक्लध्यान के द्वारा, कर्मों की धूल उड़ा दी।
 प्रभु पौष शुक्ल पंचमि को, निर्वाण गये सुखकारी ॥ जिनकी ...॥१८॥
 है निमित्त अकिंचित्कर ही, किंचित् नहिं सुख-दुख दाता।
 निज की सम्यक् दृढ़ता से, मिटती है सर्व असाता ॥
 प्रभु यही भावना मेरी, तुमसा पुरुषार्थ सु-धारी।

होकर शिवपदवी पाऊँ, चरणों में ढोक हमारी ॥ जिनकी ...॥१९॥
 भवि पढ़े सुने यह गाथा, हो तत्त्वज्ञान के धारी।
 निज सम नारी भगनी सम, लघु सुता, बड़ी महतारी ॥
 आत्मन् ज्ञानाराधन से, उपजें नहीं भाव विकारी।
 सारे ही जग में फैले यह, शील धर्म सुखकारी ॥ जिनकी ...॥२०॥

श्री देशभूषण-कुलभूषण गाथा

आओ अहो आराधना के मार्ग में आओ।
 आनन्द से उल्लास से शिवमार्ग में आओ ॥टेका॥

श्री देशभूषण-कुलभूषण भगवान की गाथा।
 हो सबको ज्ञान विरागमय, आनन्द प्रदाता ॥
 दोनों भाई बचपन में ही गुरुकुल चले गये।
 सुध-बुध नहीं घर की कुछ अध्ययन में ही लग गये ॥
 गृह त्यागी लक्षण विद्यार्थी का चित्त में लाओ ॥ आनन्द... ॥१॥

साहित्य धर्म शास्त्र न्याय आदि पढ़ लिये।
 थोड़े समय में ही सहज विद्वान हो गये ॥
 पुरुषार्थ विशुद्धि विनय से ज्ञान विकसाता।
 गुरु तो निमित्त मात्र ज्ञान अन्तर से आता ॥
 अन्तर्मुखी पुरुषार्थ से सदज्ञान को पाओ ॥ आनन्द... ॥२॥

कितने भव यों ही खो दिए निज ज्ञान के बिना।
 सुख लेश भी पाया नहीं, निज भान के बिना ॥
 पुण्योदय से वैभव पाये, अरु भोग भी कितने।
 उलझाया तड़प-तड़प दुख पाया, मोहवश इसने ॥
 जिनवाणी का अभ्यास कर, अब होश में आओ ॥ आनन्द... ॥३॥

पढ़-लिख कर घर आने की थी तैयारी जिस समय।
 रे इन्द्रपुरी सम नगरी की शोभा थी उस समय ॥

उल्लास का वातावरण चारों तरफ छाया।
 खो बैठे अपनी सुध-बुध ऐसा रंग वर्षाया॥
 हो मूढ़ राग-रंग में, ना निज को भुलाओ॥
 आनन्द से उल्लास से शिवमार्ग में आओ॥४॥
 निज कन्यार्ये लेकर, अनेक राजा आये थे।
 देखा नहीं सुनकर ही वे, मन में हरषाये थे॥
 सपने संजोये थीं कन्यार्ये, उनको वरने की।
 उनमें भी होड़ लगी थी, उनके चित्त हरने की॥
 पर होनहार सो ही होवे विकल्प मत लाओ॥ आनन्द... ॥५॥
 आते हुए उन राजपुत्रों को दिखी कमला।
 उल्लास से जिसकी दिखी तन कान्ति अति विमला॥
 कर्मोदय वश दोनों ही उस पर लुब्ध थे हुए।
 मन में विवाह की उससे ही लालसा लिए॥
 लखकर विचित्रता अरे सचेत हो जाओ॥ आनन्द... ॥६॥
 इक कन्या को दो चाहते, संघर्ष हो गया।
 दोनों के भ्रातृप्रेम का भी हास हो गया॥
 धिक्कार इन्द्रिय भोगों को जो सुख के हैं घातक।
 रे भासते हैं मूढ़ को ही सुख प्रदायक॥
 कर तत्त्व का विचार श्वानवृत्ति नशाओ॥आनन्द... ॥७॥
 इच्छाओं की तो पूर्ति सम्भव ही नहीं होती।
 मिथ्या पर-लक्ष्यी वृत्ति तो निजज्ञान ही खोती॥
 सुख का कारण इच्छाओं का अभाव ही जानो।
 उसका उपाय आत्मसुख की भावना मानो॥
 भवि भेदज्ञान करके आत्मभावना भाओ॥ आनन्द... ॥८॥
 आते देखा भ्राताओं को वह कन्या हरषायी।
 भाई-भाई कहती हुई, नजदीक में आयी॥

तब समझा यह तो बहिन है जिस पर ललचाये थे।
ग्लानि मन में ऐसी हुई, कुछ कह नहीं पाये थे॥
नाशा विकार ज्ञान से, प्रत्यक्ष लखाओ॥ आनन्द... ॥१॥

ज्यों ही जाना हम भाई हैं, यह तो पावन भगिनी।
फिर कैसे जागृत हो सकती है, वासना अग्नि॥
त्यों ही मैं ज्ञायक हूँ ऐसी अनुभूति जब होती।
तब ही रागादिक परिणति तो सहज ही खोती॥
अतएव स्वानुभूति का पुरुषार्थ जगाओ॥
आनन्द से उल्लास से शिवमार्ग में आओ॥१०॥

अज्ञान से उत्पन्न दुख तो ज्ञान से नाशे।
अस्थिरता जन्य विकार भी थिरता से विनाशे॥
भोगों के भोगने से इच्छा शान्त नहीं होती।
अग्नि में ईंधन डालने सम शक्ति ही खोती॥
अतएव सम्यग्ज्ञान कर, संयम को अपनाओ॥ आनन्द... ॥११॥

दोनों कुमार सोचते थे, प्रायश्चित्त सुखकर।
इसका यही होवेगा, हम तो होंय दिगम्बर॥
दुनिया की सारी स्त्रियाँ, हम बहिन सम जानी।
आराधेँ निज शुद्धात्मा दुर्वासना हानी॥
निष्काम आनंदमय परम जिनमार्ग में आओ॥ आनन्द... ॥१२॥

ऐसा विचार करते ही सब खेद मिट गया।
अक्षय मुक्ति के मार्ग का फिर, द्वार खुल गया॥
अज्ञानी पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हैं।
ज्ञानी तो दोष लगने पर प्रायश्चित्त करते हैं॥
शुद्धात्म आश्रित भावमय प्रायश्चित्त प्रगटाओ॥ आनन्द... ॥१३॥

हम कर्म के प्रेरे बहिन, दुर्भाव कर बैठे।
अज्ञानवश निज शील का उपहास कर बैठे॥

करना क्षमा हम ज्ञानमय दीक्षा को धरेंगे।
 अज्ञानमय दुष्कर्मों को निर्मूल करेंगे ॥
 समता का भाव धार कर कुछ खेद नहीं लाओ ॥ आनन्द... ॥१४॥
 रोको नहीं तुम भी बहिन, आओ इस मार्ग में।
 दुर्मोह वश अब मत बढ़ो संसार मार्ग में ॥
 निस्सार है संसार बस शुद्धात्मा ही सार।
 अक्षय प्रभुता का एक ही है आत्मा आधार ॥
 निर्द्वन्द्व निर्विकल्प हो निज आत्मा ध्याओ ॥ आनन्द... ॥१५॥
 ले के क्षमा करके क्षमा, गुरु ढिंग चले गये।
 आया था राग घर का, ज्ञानी वन चले गये ॥
 संग में चले निर्मोही, रागी देखते रहे।
 धारा था जैन तप, उपसर्ग घोर थे सहे ॥
 पाया अचल, ध्रुव सिद्धपद भक्ति से सिर नाओ ॥ आनन्द... ॥१६॥

सती अनन्तमती गाथा

ब्रह्मचर्य की अद्भुत महिमा, सुनो भव्यजन ध्यान से।
 सती शिरोमणि अनन्तमती, की गाथा जैन पुराण से ॥टेका॥
 बहुत समय पहले चम्पानगरी में, प्रियदत्त सेठ हुये।
 न्यायवान गुणवान बड़े, धर्मात्मा अति धनवान थे वे ॥
 पुत्री एक अनन्तमती, इनकी प्राणों से प्यारी थी।
 संस्कारों में पली परम विदुषी रुचिवंत दुलारी थी ॥
 सदाचरण की दिव्य मूर्ति निज उन्नति करती ज्ञान से ॥सती...॥१॥
 मंगलपर्व अठाई आया, श्री मुनिराज पधारे थे।
 स्वानुभूति में मग्न रहे, अरु अद्भुत समता धारे थे ॥
 धर्मकीर्ति मुनिराज धर्म का, मंगल रूप सुनाया था।
 श्रद्धा, ज्ञान, विवेक, जगा, वैराग्य रंग बरसाया था ॥
 धन्य-धन्य नर-नारी कहते, स्तुति करते तान से ॥सती...॥२॥

प्रियदत्त सेठ ने धर्म पर्व में, ब्रह्मचर्य का नियम लिया।
 सहज भाव से अनन्तमती ने, ब्रह्मचर्य स्वीकार किया॥
 जब प्रसंग शादी का आया, बोली पितु क्या करते हो।
 ब्रह्मचर्य-सा नियम छुड़ा, भोगों में प्रेरित करते हो॥
 भोगों में सुख किसने पाया, फँसें व्यर्थ अज्ञान से॥सती...॥३॥
 व्रत को लेना और छोड़ना, हँसी खेल का काम नहीं।
 भोगों के दुख प्रत्यक्ष दीखें, अब तुम लेना नाम नहीं॥
 गज मछली अलि पतंग हिरण, इक-इक विषयों में मरते हैं।
 फिर भी विस्मय मूढ़, पंचेन्द्रिय भोगों में फँसते हैं॥
 मिर्च भरा ताम्बूल चबाते, हँसते झूठी शान से॥सती...॥४॥
 चिंतामणि सम दुर्लभ नरभव, नहीं इनमें फँस जाने को।
 यह भव हमें सु-प्रेरित करता, निजानंद रस पाने को॥
 भोगों की अग्नि में अब यह, जीवन हवन नहीं होगा।
 क्षणिक सुखाभासों में शाश्वत सुख का दमन नहीं होगा॥
 निज का सुख तो निज में ही है देखो सम्यग्ज्ञान से॥सती...॥५॥
 अब मैं पीछे नहीं हटूँगी, ब्रह्मचर्य व्रत पालूँगी।
 शील बाढ़ नौ धारण करके, अन्तर ब्रह्म निहारूँगी॥
 नाहिं बालिका मुझको समझो, मैं भी तो प्रभु सम प्रभु हूँ।
 भय शंका का लेश न मुझमें, अनन्त शक्तिधारी विभु हूँ॥
 मूढ़ बनो मत, स्व-महिमा पहिचानो भेद-विज्ञान से॥सती...॥६॥
 मिट्टी का टीला तो देखो, जल-धारा से बह जाता।
 धारा ही मुड़ जाती, लेकिन अचल अडिग पर्वत रहता॥
 ध्रुव कीली के पास रहें, वे दाने नहीं पिस पाते हैं।
 छिन्न-भिन्न पिसते हैं वे ही, कीली छोड़ जो जाते हैं॥
 निजस्वभाव को नहीं छोड़ना, सुनो भ्रात अब कान दे॥सती...॥७॥

अनन्तमती की दृढ़ता देखी, मात-पिता भी शांत हुये।
 आनन्दित हो धर्मध्यान में, वे सब ही लवलीन हुये॥
 झूला झूल रही थी इक दिन, कुण्डलमण्डित आया था।
 कामासक्त हुआ विद्याधर, जबरन् उसे उठाया था॥
 पर पत्नी के भय के कारण, छोड़ा उसे विमान से॥
 सती शिरोमणि अनन्तमती की गाथा जैन पुराण से॥८॥
 एकाकी वन में प्रभु सुमरे, भीलों का राजा आया।
 कामवासना पूरी करने को, वह भी था ललचाया॥
 देवों द्वारा हुआ प्रताड़ित, सती तेज से काँप गया।
 पुष्पक व्यापारी को दी, उसने वेश्या को बेच दिया॥
 देखो सुर भी होंय सहाई, सम्यक् धर्मध्यान से॥सती...॥९॥
 वेश्या ने बहु जाल विछाया, पर वह भी असमर्थ रही।
 भेंट किया राजा को उसने, सती वहाँ भी अडिग रही॥
 देखो कर्मोदय की लीला, कितनी आपत्ति आयी।
 महिमा निजस्वभाव की निरखो, सती न किंचित् घबरायी॥
 कर्म विकार करे नहीं जबरन्, व्यर्थ रुले अज्ञान से॥सती...॥१०॥
 निकल संकटों से फिर पहुँची, पद्मश्री आर्यिका के पास।
 निजस्वभाव साधन करने का, मन में था अपूर्व उल्लास॥
 उधर दुखी प्रियदत्त मोहवश, यहीं अयोध्या में आये।
 बिछुड़ी निज पुत्री को पाकर, मन में अति ही हरषाये॥
 घर चलने को कहा तभी, दीक्षा ली हर्ष महान से॥सती...॥११॥
 निजस्वरूप विश्रान्तिमयी, इच्छा निरोध तप धारा था।
 रत्नत्रय की पावन गरिमामय, निजरूप सम्भाला था॥
 मगन हुयी निज में ही ऐसी, मैं स्त्री हूँ भूल गयी।
 छूटी देह समाधिसहित, द्वादशम स्वर्ग में देव हुयी॥
 पढ़ो-सुनो ब्रह्मचर्य धरो, सुख पाओ आतमज्ञान से॥सती...॥१२॥

परभावशून्य चिद्भावपूर्ण में परमब्रह्म श्रद्धा जागे।
 विषय-कषायें दूर रहें, मन निजानंद में ही पागे॥
 ये ही निश्चय ब्रह्मचर्य, आनंदमयी मुक्ति का द्वार।
 संकट त्राता आनन्द दाता, इससे ही होवे उद्धार॥
 अतः आत्मन् उत्तम अवसर, बनो स्वयं भगवान-से।
 सती शिरोमणि अनन्तमती की गाथा जैन पुराण से॥सती...॥१३॥

आचार्य श्री जिनसेन गाथा

पूछ उठा अपनी माता से, इक बालक छह साल का।
 सरल स्वभावी परम चतुर था, जिसका रूप कमाल का॥टेक॥
 माँ इस घर में कल-सी, गाने की आवाज नहीं है।
 ध्वनि क्यों बदली है ? क्या गानेवाली बदल गयी है ?
 माँ बोली बेटा इस घर में, कल एक पुत्र जन्मा था।
 ढोलक पर थी बजी बधाई, जिसका बँधा समा था॥
 अरुण रूप जिसका विलोक, शरमाया रूप प्रवाल का॥ सरल...॥१॥
 आज वही मर गया, इसी से सब घर के रोते हैं।
 मन में टूटी आशाओं का, व्यर्थ भार ढोते हैं॥
 बालक बोला सहजभाव से, माँ क्यों पुत्र मरा है।
 कल जन्मा मर गया आज ही, ये तो खेल बुरा है॥
 माँ बोली बेटा क्या अचरज, नहीं भरोसा काल का॥ सरल...॥२॥
 बेटा सबको ही मरना है, जिसने जन्म लिया है।
 अनादि काल से इस प्राणी ने, जग में यही किया है।
 तो क्या माँ मुझको भी, मरना होगा कभी जहाँ से।
 माँ बोली चुप रह पगले, मत ऐसा बोल जुबाँ से॥
 जग में बाँका बाल न हो, प्रभु कभी हमारे लाल का॥ सरल...॥३॥
 माँ क्या कोई है उपाय, जिससे न जीव मर पावे।
 क्या दुनिया में ऐसा है, जो यह रहस्य बतलावे॥

माँ बोली इसके ज्ञाता, श्री वीरसेन स्वामी हैं।
 मिथ्यातम हर भानु आज के, युग में वे नामी हैं॥
 वही पकड़ कर हाथ उठाते, विषयाश्रित कंगाल का॥ सरल...॥४॥
 सुन उपाय माता से बालक, वीरसेन के पास गया।
 हो आनन्द विभोर पकड़, जिसने गुरुचरण सरोज लिया॥
 विह्वल हो बोला कि देव मैं, मरने से घबराया हूँ।
 आप बचा लोगे मरने से, ऐसा सुनकर आया हूँ॥
 तेरे आश्रित बाल न बाँका, होगा मुझ-सम बाल का॥
 सरल स्वभावी परम चतुर था, जिसका रूप कमाल का॥५॥
 मेरी माँ ने इस उपाय का, ज्ञाता तुम्हें बताया है।
 दया करो कातर हो बालक, शरण आपकी आया है॥
 चरण पकड़ गुरुवर के बालक, फूट-फूट कर रोया है।
 अविरल धारा अश्रु बहाकर, गुरुपद पंकज धोया है॥
 विह्वल हो बोला प्रभु कर दो, अन्त जगत जंजाल का॥ सरल...॥६॥
 गुरु ने लिया उठाय प्रेम से, बालक को बैठाया है।
 सुधा गिरा से आश्वासन दे, मन का क्लेश मिटाया है॥
 कालान्तर में कुशलबुद्धि पर, रंग चढ़ा जिनवाणी का।
 पाया मर्म अपूर्व निराकुल, बोध आत्मकल्याणी का॥
 गुरु प्रसाद से खुला भेद, शिवपुर की सीधी चाल का॥ सरल...॥७॥
 वीरसेन गुरुवर ने ही, इस बालक को जिनसेन कहा।
 दीक्षा दे अपने समान ही, इन्हें किया मुनिराज महा॥
 वीरसेन जिनसेन परम गुरु, मेरे सिर पर हाथ धरो।
 चन्द्रसेन से तुच्छ दास का भी, प्रणाम स्वीकार करो॥
 तेरा दास दुःखी मैं क्यों? उत्तर दें इसी सवाल का॥ सरल...॥८॥

मेरा सहज जीवन

अहो चैतन्य आनन्दमय, सहज जीवन हमारा है।
अनादि अनंत पर निरपेक्ष, ध्रुव जीवन हमारा है ॥टेक॥

हमारे में न कुछ पर का, हमारा भी नहीं पर में।
द्रव्य-दृष्टि हुई सच्ची, आज प्रत्यक्ष निहारा है ॥१॥

अनंतों शक्तियाँ उछलें, सहज सुख ज्ञानमय विलसें।
अहो प्रभुता परम पावन, वीर्य का भी न पारा है ॥२॥

नहीं जन्मूँ नहीं मरता, नहीं घटता नहीं बढ़ता।
अगुरुलघु रूप ध्रुव ज्ञायक, सहज जीवन हमारा है ॥३॥

सहज ऐश्वर्य मय मुक्ति, अनंतों गुण मयी ऋद्धि।
विलसती नित्य ही सिद्धि, सहज जीवन हमारा है ॥४॥

किसी से कुछ नहीं लेना, किसी को कुछ नहीं देना।
अहो निश्चित परमानन्दमय जीवन हमारा है ॥५॥

ज्ञानमय लोक है मेरा, ज्ञान ही रूप है मेरा।
परम निर्दोष समता मय, ज्ञान जीवन हमारा है ॥६॥

मुक्ति में व्यक्त है जैसा, यहाँ अव्यक्त है वैसा।
अबद्धस्पृष्ट अनन्य, नियत जीवन हमारा है ॥७॥

सदा ही है न होता है, न जिसमें कुछ भी होता है।
अहो उत्पाद व्यय निरपेक्ष, ध्रुव जीवन हमारा है ॥८॥

विनाशी बाह्य जीवन की, आज ममता तजी झूठी।
रहे चाहे अभी जाये, सहज जीवन हमारा है ॥९॥

नहीं परवाह अब जग की, नहीं है चाह शिवपद की।
अहोपरिपूर्ण निष्पह ज्ञानमय जीवन हमारा है ॥१०॥

सत्त्वा जैन

ज्ञानी जैन उन्हीं को कहते, आतम तत्त्व निहारें जो।
ज्यों का त्यों जानें तत्त्वों को, ज्ञायक में चित धारें जो ॥१॥

सच्चे देव-शास्त्र-गुरुवर की, परम प्रतीति लावें जो।
वीतराग-विज्ञान-परिणति, सुख का मूल विचारें जो ॥२॥

नहीं मिथ्यात्व अन्याय अनीति, सप्तव्यसन के त्यागी जो।
पूर्ण प्रमाणिक सहज अहिंसक, निर्मल जीवन धारें जो ॥३॥

पापों में तो लिप्त न होवें, पुण्य भलो नहीं मानें जो।
पर्याय को ही स्वभाव न जानें, नहीं ध्रुवदृष्टि विसारें जो ॥४॥

भेद-ज्ञान की निर्मल धारा, अन्तर माँहिं बहावें जो।
इष्ट-अनिष्ट न कोई जग में, निजमन माँहिं विचारें जो ॥५॥

स्वानुभूति बिन परिणति सूनी, राग जहर सम जानें जो।
निज में ही स्थिरता का, सम्यक् पुरुषार्थ बढ़ावें जो ॥६॥

कर्ता भोक्ता भाव न मेरे, ज्ञानस्वभाव ही जानें जो।
स्वयं त्रिकाल शुद्ध आनंदमय, निष्क्रिय तत्त्व चितारें जो ॥७॥

रहे अलिप्त जलज ज्यों जल में, नित्य निरंजन ध्यावें जो।
आत्मन् अल्पकाल में मंगलरूप परमपद पावें जो ॥८॥



अनमोल वचन

संस्कार बिना सुविधाएँ पतन का कारण हैं।

आलस छोड़ो, क्रिया सुधारो, ज्ञानाभ्यास करो।

हमारे जीवन के संस्कारों का प्रथम मंगलाचरण मंदिर है।

पुण्य के उदय से प्राप्त वैभव में प्रसन्न होना रौद्रध्यान है।

दुःख से बचने का उपाय आत्मघात नहीं, आत्मसाधना है।

भूल को छिपाने का नहीं, मिटाने का उपाय करना चाहिए।

ऐसी चतुराई किस काम की, जो चतुर्गति में परिभ्रमाए।